श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

समाधितन्त्र प्रवचन

द्वितीय भाग

प्रवक्ता—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज

प्रकाशक —

जयन्तीप्रसाद जैन, रिटायर्ड हेड कैशियर, स्टेट बैंक
मंत्री, श्री वर्णी साहित्य मन्दिर,
सेवाकली, इटावा (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण] १०००   मई १९६६   [न्यौछावर १) ५०

श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

श्री वर्णी साहित्य मन्दिर की प्रतिष्ठापिका—

श्रीमती दानशीला धनवन्तीदेवी ध० प० स्व० श्री ज्ञानचन्द्रजी जैन, इटावा

प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

प्रवर्तक सदस्य—

श्री रंगलाल रतनचन्द्रजी जैन पसारी, इटावा

समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग

प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

प्रस्तावना— इस श्लोकसे पहिले इस समस्त ग्रन्थकी संक्षिप्त भूमिकामें यह बता दिया गया था कि लोकमें तीन प्रकारसे आत्मत्व मिलेगा—बहिरात्मत्व, अन्तरात्मत्व और परमात्मत्व। इनमें अन्तरात्मा बनने के उपायसे बहिरात्मापन को छोड़ना और परमात्मत्वको ग्रहण करना, बस यही जीवोंका परम पुरुषार्थ है। इसके वर्णनमें बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्माका स्वरूप बताया है। उसमें भी परमात्माके स्वरूपको संक्षेपमें ही कहकर बहिरात्माके स्वरूपका विशेष वर्णन किया और उससे भी विशेष अन्तरात्माका वर्णन किया। प्रायोजनिक अन्तरात्माका वर्णन करके अंतमें यह शिक्षा दी गयी है कि इस प्रकार बहिरात्मापनको छोड़कर और अन्तरात्मत्वमें स्थित होकर परमात्मत्वकी भावना करनी चाहिए। अब उसही परमात्मत्व की भावनाके सम्बन्धमें यह प्रकरण चला है।

कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म— परमात्मत्व दो प्रकारसे है—एक कारणपरमात्मत्व और एक कार्यपरमात्मत्व। ऐसा यह दो प्रकारपना केवल परमात्मत्वमें ही नहीं है, किन्तु प्रत्येक प्रसंगमें कारणत्व और कार्यत्वका प्रयोग है। जैसे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु। इस ही प्रकार कारणसमयसार और कार्य समयसार। जो सहज चैतन्यस्वभाव है वह तो है कारणब्रह्म और जो चित्स्वभावका उत्कृष्ट शुद्ध विकास है वह है कार्यब्रह्म। परमार्थदृष्टिसे यह आत्मा निजस्वरूप होनेके कारण, कारणब्रह्म की उपासना कर सकता है। कार्यब्रह्मकी उपासना तो उसे विषयभूत बनाकर अथवा आदर्श मानकर किया करते हैं। सो वहां भी इस आत्माने गुणस्मरणरूप निज परिणमनका विकास किया है। तो जहां परमात्मत्वकी भावना करनेका संदेश आया हो वहां पर अध्यात्मशास्त्रोंमें यह अर्थ लेना चाहिए कि शुद्ध कारणब्रह्मकी उपासना करें।

परमात्मत्वकी उपासना और आत्मस्थिति— इस परमात्मत्व की उपासना कैसे होती है ? इसका फलितरूप यह है कि आत्मा आत्मामें ही स्थितिको प्राप्त करले तो समझ लीजिए कि मैंने कारणब्रह्मकी उपासनाकी। यह स्पष्टीकरण पहिले किया गया है, पर इस श्लोकमें पूर्वपंक्तिमें बताया जा

रहा है। 'यह मैं हूं' इस प्रकारका पाया है संस्कार जिसने, ऐसा यह मुमुक्षु आत्मामें ही कारणपरमात्मतत्त्वकी बारबार भावना करता है। उस भावनाके बलसे उस ही कारणपरमात्मस्वरूपमें सच्चिदानन्दस्वभावमें दृढ़ संस्कार वाला होता है। इस दृढ़ संस्कारसे वह आत्मा आत्मामें ही स्थितिको प्राप्त होता है। इस सहज चैतन्यस्वरूपकी उपासनामें जो आनन्द भरा है, जो तत्त्व है वह अन्यत्र किसी भी स्थितिमें नहीं है।

बरबादी— भैया ! यह वैषयिक सुख तो इसके पीछे यों लग गया है जैसे लोग कहा करते हैं कि किसीको सताने के लिए प्रेत पीछे लग जाता है। उससे भी कठिन ढंगसे ये विषय-कषाय इसकी बरबादीके लिए तुले हुए लगे हैं। ऐसी मोहिनी धूल पड़ी है इस जीवोंपर जिससे कि उन विषयों से बरबाद होते चले जा रहे हैं। फिर भी उन विषयोंमें प्रीति बनाये जा रहे हैं। और केवल इतना ही नहीं, विषयोंके वश होकर दीन भी बने फिर रहे हैं। किन्तु पचेन्द्रिय और मनके विषयमें अपना बड़प्पन मानकर अभिमान से चूर हो रहे हैं। यह जीव सबको तुच्छ समझता है और अपने आपको बहुत उच्च समझता है, पर यह विदित नहीं है कि अभिमानी पुरुष वह तो अकेला ही सबको तुच्छ देखता है, पर नीचे रहने वाले पुरुष अर्थात् नम्र सभ्यगण उस अभिमानी को सभीके सभी तुच्छ देखते हैं। अहंकारमें डूबे हुए पुरुषको कभी विवेकपूर्ण ध्यान नहीं रहता है। यह अहंकार भी अज्ञानका ही प्रताप है। अपने आपके स्वरूपका कोई भान नहीं है। यह पर्यायका अहंकारी, विषयोंका मोही यह नहीं जान पाता है कि मेरा स्वरूप तो वही है जैसा कि सबका है। सबमें एकरस, एकस्वरूप यह आत्मतत्त्व है। इसकी पहिचान न होने से ही यह अपनेको सबसे निराला और बड़ा मानता है। ओह, जो बहिर्मुख रहता है उसकी कहा भावना हो सकती है कि वह परमात्मस्वरूपको समझे, उसकी भावना करे और अपना जीवन सफल करे।

अहम्— मैं वह हूं। कौन ? सीधा समझनेके लिए तो व्यवहारका का आश्रय करके शुद्ध विकासकी ओर दृष्टि दें—मैं वह हूं जो अनन्तज्ञानादिमय परमात्मस्वरूप है, सो ही मैं हूं और परमार्थदृष्टिसे जो सहज ज्ञानरूप है, सहज दर्शनरूप सहज आनन्दमय, सहजशक्तिस्वरूप जो चित्रूप है, ज्ञायकस्वभाव है वह मैं हूं, ऐसी भावना निकटभव्य पुरुषके होती है। मैं वह हूं ऐसी भावनाके साथ यह भी बात छिपी हुई है कि मैं और कुछ नहीं हूं, मैं प्रभुस्वरूप हूं ऐसा कोई चिंतन करे तो उसमें यह बात पड़ी हुई है कि मैं रुलने वाला, मिटने वाला संसारी प्राणी नहीं हूं। और जब निज

कारणब्रह्मको लक्ष्य करके कहा जाय कि मै वह हूं तो उसमें यह बात पड़ी हुई है कि मै गति, इन्द्रिय, देह योग, वेद सर्व प्रकारके भेदभावोंरूप नहीं हू।

भावनाका प्रभाव— भैया! शुद्धात्मतत्त्वकी भावनाका बहुत महत्व है। किसी भी ओरकी भावना हो तो वह भावना अपना प्रभाव दिखाती है किसीको बड़ी आर्थिक हानि हो गयी हो और उस ओर ही भावना बन रही हो तो उस भावनाका इतना असर हो जाता है कि उसे दिलको बीमारी हो जाती है और जब बीमारी बढ़ जाती है तो सारे हितैषी लोग गोदमे भी लिए फिरें, तिस पर भी वह लाइलाज हो जाता है। कोई पुरुष नाटकके मंचपर स्त्रीका पार्ट करे और मै स्त्री हू ऐसी दृढ भावना करले तो उसे अपने पुरुषत्वका भी स्मरण नहीं रहता। किसी नाटकमे तो यह भी सुना गया है कि किसीने अमरसिंह का पार्ट किया तो मै अमरसिंह हूं ऐसी दृढ भावना भरी। इसके कारण अमरसिंह ने जैसे मारा था, उस ही प्रकार यह भी उस नाटकके मंच पर पार्टमें बने हुए सुलतानसिंह को शस्त्र से मार दिया था। और है क्या? एक भावना ही तो घर कर गयी है जिससे नानारूप रखने पड़ते हैं।

भावनानुसार वृत्ति— कोई पुरुष इस ध्यानमे गड़गप्प हो जाय कि मै तो एक लम्बा चौड़ा भैंसा हू। खूब ध्यान करे तीव्र गतिसे तब चित्त पूर्ण प्रकारसे यों हो जाता है कि मै भैंसा हूं, बहुत बड़ा हूं। इस भावना के साथ परिमाण भी उपयोगमें लावे, कि तीन चार हाथ लम्बे अगल बगल फैले हुए मेरे सींग भी हैं, ऐसा मै बहुत बड़ा लम्बा, चौड़ा, मोटा एक भैंसा हू, तथा ऐसा ही सोचने के बीच थोड़ा यह भी ध्यान बन जाय कि इस दरवाजेमें तो केवल दो ही फिटकी चौडाई है मैं नहीं निकल पा रहा हूं तो इस तरहका ख्याल बन जाने से वह खेद करेगा, हाय मैं अब कैसे निकलूंगा? अरे! तू तो आदमी है, खेद क्यों करता है? खेद कैसे न करे, उपयोग मे तो अपनेको इतना लम्बा चौड़ा मान लिया। सब उपयोग की ही तो बात है। कौन किसकी स्त्री है, कौन किसका पिता है, पर उपयोगमे भर लिया कि मैं इनकी स्त्री हूं, मैं इनका पिता हूं, तो सारे जीवन भर वही वासना, वही संस्कार, वही चेष्टा बनी रहती है। भावनाका बहुत प्रभाव है।

स्व-सद्भावना— ऐसे ही यदि कोई सत्पुरुष अपने आपमें यह भावना करे कि मै तो शुद्ध ज्ञानब्रह्म हूं, ज्ञानमात्र, ऐसी भावनाको दृढ़तासे भाये, जहां यह भान ही न हो कि मै मनुष्य हूं, मेरे देह भी लगा है, मैं

अमुक गांवका हूं, अमुक जाति कुलका हू ऐसा कुछ भी भान न रहे, केवल मैं ज्ञानस्वरूप हूं ऐसा ही उपयोग भर जाय तो उस कालमे इस जीवके अपने आपके ज्ञानमें ज्ञानरूप स्थिति हो जाती है। यही तो परमात्मतत्त्व प्रदीपक योग है। इसीको कहते हैं सोहंकी भावना।

सोऽहंकी भावनाका उपक्रम— भैया ! ऐसा रग जाय सोहंके भावमें कि सोहं सोहंकी ही ध्वनि सुनाई दे। श्वास भी तो इसी तरह लिया जाता है। जब श्वास अन्दरको आता है तब आवाज निकलती है सो की और जब श्वास बाहरको फेंका जाता है तो आवाज निकलती है ह की। चाहे नाकसे श्वास लेकर और श्वांसको बाहर निकाल कर अभी देख लो। अब अपनेको श्वांसके साथ ही उस सोहंमें रग लो। जब श्वासको नाकसे अन्दर ले जाया जा रहा हो उस समय सो का ध्यान करो, और जब श्वांस को नाकसे बाहर निकाला जा रहा हो तब ह का ध्यान करो। अब सोहका ध्यान स्वरमे मिला दो। इस सम्बन्धमें किस प्रकार उन्नति की जा रही है इसको कुछ प्रारम्भसे देखिये। पहिले यह जीव दासोहं दासोहकी भावनामे रहा। हे प्रभो ! मैं तुम्हारा दास हूं, सेवक हूं। कोई बड़ा ईमानदार सेवक हो तो बहुत दिन सेवा करनेके बाद मालिकका अति लाड़ला व निकटवर्ती हो जाना है। होना चाहिए ईमानदारीकी सेवा। यों ही निश्छल भावसे प्रभु की उपासना हो, संसारका कुछ प्रयोजन न हो तो प्रभुकी निकटता होती है।

बाह्यमें असारता— क्या रक्खा है बाल बच्चोमें, क्या रक्खा है मकानमें ? यह सब तो एक झंझटका समुदाय है। आज की ही एक घटना सुननेमें आयी है कि एक लड़का घरसे निकला, १५, १६ क्लास पास था, वह रेलसे कट कर मर गया। किसीका लड़का गुस्सा होकर भाग जाये और आये रातके तीन बजे तो घर वालोंको सारे नगरमें ढूंढना पड़ता है। जरा खेदके साथ कहो, वाहरे कुटुम्बके मजे किसको चाहते हो, किसकी चाहमें प्रभुभक्तिकी इतिश्री कर रहे हो। ये धन वैभव तो जड़ हैं। एक पत्थरसे ही सिर लग जाय तो खून निकले, ऐसे ही पत्थर बतौर सारे वैभव हैं। रहा गुजारेका काम, उदरपूर्तिका काम, सो इसके लिये इतने धन वैभवकी वहां आवश्यकता नहीं है। चींटी, कीड़ी भी उदयानुसार उदरपूर्ति कर लेते हैं। अपने अपने भावोंके अनुसार सबको उदरपूर्तिका साधन रहता है। इतने विशाल वैभवके संचयकी बुद्धि होना और इसके ही लिए प्रभुके आगे मजीरा ठोकना, वाहरे भगत, किस असार तत्त्वके लिए प्रभुभक्तिकी इतिश्री की जा रही है ?

पवित्र भावनाका परिणाम— निश्चल भावसे, सांसारिक किसी

प्रयोजन बिना प्रभुकी उपासना हो और प्रभुकी भी उपासना स्वरूपरूपमें हो, चारित्रके रूपमें नहीं। आदिनाथ स्वामीने अपने जीवनमें यों यों किया, महावीर तीर्थंकरने यों यों किया, श्री राम भगवान्ने यों यो राज्य किया, व्यवहार किया, इत्यादि रूपसे उनके चरित्र पर दृष्टि न दें, किन्तु उन आत्माबोंका जो सहजस्वरूप हैं, कारणस्वभाव है उस स्वभावको निरखे। यदि इस परमार्थतत्त्वको निरखते जावोगे तो वहां न आदिनाथ, न महावीर, न राम कोई व्यक्ति भेदमें उपस्थित न होंगे, किन्तु वहां एक शुद्ध कारणब्रह्म चित्स्वरूप ही उपयोगमें रहेगा। ऐसे स्वरूपकी कोई करे तो निश्छल उपासना, वह फिर दासोहंके भेदसे रहित होकर सोहंका अनुभव करने लगेगा।

श्वास श्वासमे सोऽहंका मेल—अब सोहंके ज्ञान द्वारा अनुभव किया, किन्तु थक गये। बहुतसा काम करके तो आप लोग भी थक जाते हैं ना। तो यह एक अपूर्व नया काम है, प्रथम अभ्यास है, लो थक गए। बहुत प्रगतिके साथ सोहंकी भावना चली थी, इसमें थक गए तो अब कुछ व्यावहारिक प्रयोग करिये। पर यह आनन्दका काम था, सो इसे न छोड़िये। अब उतर आइये अपने श्वासो पर। दृष्टिमें आने लगा उसे यह देह मायारूप है। अब इस मायासे भी इस ढंगसे बात करिये, इस ढंगसे व्यवहार रखिये कि जल्दी छुट्टी मिलकर फिर उस परमार्थ उपवनमे विहार शुरू हो जाय। श्वास लेनेके साथ सो और उच्छ्वासके साथ हं की भावना लेते जाइए। अब फिर उस ही प्रगतिमे आ जाइये। अब श्वासमे दृष्टि जाय और सोह आ जाय दृष्टिमे। अब अनुभव कीजिये यह मै हू।

कारणब्रह्ममें सोऽहंकी उपासना—देखिये—यहां पर कार्यपरमात्माको अब "सो" मत मानिए, क्योंकि अन्तर की बात हो गयी इस दृष्टिमे। कार्यपरमात्मा परक्षेत्रमे स्थित है, परचतुष्टयरूप है, उसमें आत्मस्थिति न बन पायेगी। उस सो को अब कारणब्रह्म के रूपमें बदल लीजिए जो घट घटमें अतःप्रकाशमान् है। अब अपने आपमें इन सब पर्दोंको फाड़कर चमड़ा, मास, हड्डी, रागद्वेष, खण्डज्ञान, विकल्प, विचार इन सब पर्दोंको पार कर, इनमे न अटक कर अन्तरमे अन्तस्तत्त्वको पहिचानिये उस शुद्ध सनातन चिद्ब्रह्मको अनुभूत कीजिये। अपने आपमे ही अन्तर मे प्रवेश करनेमें क्या हैरानी होती है? उस चिद्ब्रह्मको लक्ष्यमे लेकर कुछ भावना तो करिये सोहंकी। मैं चित्स्वरूप हूं, रागादिकरूप नहीं हूं, यों देखिये, अन्य जगह दिमागको मत ले जाइये।

चिन्ता क्यों?—भैया! जब मैं रागादिकरूप भी नहीं हूं तो अन्य

सपनेकी बातोंका तो कहना ही क्या है ? परद्रव्योंकी बात कुछ भी ध्यानमें मत रखिये। कुछ चिंता नहीं, वैभवसे आप नहीं लगे हैं, किन्तु आपके भाग्यसे वैभव लगा हुआ है। वैभवमें आपमें आप नहीं पड़े हैं, किन्तु आपके भाग्यमें वैभव पडा हुआ है। वैभवके साथ भाग्य न जायेगा, किन्तु भाग्यके साथ वैभव जायेगा। वह भाग्य आपका यहीं पर है। वैभव चाहे कहीं पड़ा हो, पर वैभवकी जो मूल डोरी है वह तो आपके इस देहमें ही मौजूद है, फिर चिन्ता किस बातकी ?

आत्मस्थितिके अर्थ— कुछ क्षणको बाह्यअर्थोंमें उपयोगको न भटकाएँ और अन्तरमें निहारें कि मैं शुद्ध चित्स्वरूप हू। इस शुद्ध तत्त्व की बार बार भावनाके द्वारा उस ही में दृढ संस्कार बनाएँ। जाननहारको यह बात सुगम होती है। यदि यह तत्त्व आज दुर्लभ है, इसकी थाह पाना भी कठिन हो रहा है तो परेशानी या निराशा महसूस न करके इस ओर उत्साह बढाये कि हम इस स्वरूपके ज्ञानका अभ्यास करने लगे, फिर तो यह अति सुगम हो जायेगा। इस आत्मतत्त्वकी भावनाके द्वारा जो आत्म-संस्कार प्राप्त हुआ है, उस संस्कारसे फिर यह जीव अपनी आत्मामें आत्मा की स्थितिको प्राप्त कर लेता है। अपना शरणभूत अपनेसे गुम गया था, निकट ही पर दृष्टि फेर ली थी, सो वह दूर ही रहा। जैसे आपके पीछे जो बैठा हो वह तो आपके लिए कोसों दूर है। जब उसने अपने परमशरण से दृष्टि फेर ली तब तो उसके लिए वह अभाव रूप है। जब मिल गया उसे अपना नाथ तो उसके दर्शन पाकर बस यह कृतकृत्य और प्रसन्न हो जाता है।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

वास्तविक भयका स्थान— पूर्व श्लोकमें कारणपरमात्मतत्त्वकी भावनाका वर्णन था। उस वर्णनको सुनकर किन्हीं भाईयोंको ऐसा लग सकता है कि वह तो बड़ी कठिन और भय वाली बात है। हमें तो सीधा सुखदाई यह घरका रहना ही लग रहा है। कहाका दंदफंद, अकेले रहो, सबसे विविक्त सोचो, कुटुम्बका परिहार करो, ये क्या आफतें हैं ? कैसे गुजारेकी बात हो ? बड़े भयकी बात है, ऐसे भयकी आशंका होने पर आचार्यदेव यह शिक्षा दे रहे हैं कि अरे मूढ आत्मन्! तुझे जिस जगह विश्वास लगा है कि यह मेरा सुखदायी है, उससे बढकर भयकी चीज कोई दूसरी नहीं है। कोई नरकमें पहुंचे और वहां रहे सद्बुद्धि, तो ठिकाने वाली अक्ल वहां उसकी समझमें आती है कि जिस कुटुम्बके कारण,

विषयसुख के कारण, मित्रोंके कारण नाना पाप किए हैं, इन पापोंका यह फल मैं अकेले ही भोग रहा हूं। अब वे कोई भी मदद देने वाले नहीं हैं, जो १०, २० की संख्यामें मेरा मन बहलाते भी थे। यह मूढ आत्मा जिस जगह विश्वास बनाए हुए है उससे बढकर दुःखकी चीज, भयकी चीज और कुछ नहीं है।

समागममें लाभकी निराशा — भैया! वैभव और परिवारसे इतना ही तो सहारा होगा कि बनी बनायी दो रोटी मिल जायें और तन ढकने को दो कपडे मिल जायें किन्तु इतनी बात जब बड़ी कलाके ढंगसे, सांसारिक कलाके ढंगसे प्राप्तकी जाती है तो चिंतावोंका बोझ कितना लादा? केवल दो रोटियों और दो कपडे के निमित्तसे चिंतावोंका बोझ कितना लादा जाता है और उस बोझका फल किसे भोगना पडेगा, इस ओर व्यामोही जीवकी बुद्धि नहीं जाती। यश, कीर्ति, नामवरीकी चाह इनसे क्या लाभ होगा? इस जीवनमें भी पापका उदय आता है तो कोई साथ न देगा, उल्टा लोग हँसी करेंगे। हो गया इतना बडा, बड़ा बन गया, था रीता, अब यह हालत है। होने दो, जो बड़ा बनता है, बड़ा होता है उसके ईर्ष्यालु लोकमें अवश्य होते हैं। कहां अपनी नामवरी चाहते हो? जिनके लिए यश फैलाना चाहते हो वे स्वार्थवश कीर्ति भी गा लें, किन्तु स्वार्थमें अन्तर तो अवश्य आयेगा तो उस कालमें उतने ही वे अवगुण देखेंगे। जिनका जितना अधिक यश होगा, थोड़ी त्रुटि हो जाने पर उतना ही अधिक अपयश फैलेगा। कहां विश्वास बनाए हुए हो?

भय और अभयके साधन— मोही पुरुष जहां विश्वासी बन रहे हैं वह तो है डरकी चीज और जहां यह डर मानता है, जिस जगहसे, पदसे, स्थानसे यह भय मानता है वह ही है अभयकी चीज। वैराग्य, ज्ञान, सत्संग इनसे मोहीको भय लगता है, किन्तु अभयका स्थान यह ही है। अपना आचार और ज्ञान सही रहेगा तो लोग पूछाताछी करेंगे। अपना आचार और ज्ञान ही बिगड़ गया तो कोई पूछाताछी करने वाला नहीं है। रही एक धनकी बात, सो यह धन तो मौतके लिए भी होता है। इस धनके पीछे तो प्राण चले जाते हैं। अनेक समाचारोंमें सुन रक्खा होगा कि अमुक बुढ़िया का या अमुक पुरुषका रिश्तेदार लोग कुटुम्ब वाले या पास पड़ौस के लोग गला घोटकर सब कुछ छीन ले गए। तो यह धन तो इस पुरुषकी मृत्युके लिए भी है। इस धनका क्या विश्वास?

विभूतिका अज्ञात गमनागमन— नारियलका फल तो प्रायः बहुतसे लोगोंने देखा होगा। बहुत ऊपर लगते हैं वे नारियलके फल, पर जो ऊपर

का बम्फल है, वह इतना कठोर होता है कि लोढ़े से फोड़ो तो फूटता है। पत्थरपर पटको तो टूटता है, ऐसी कठिन नरेटीके भीतर नारियलमें पानी डालने कौन जाता है ? उस नारियलमें से पाव डेढपाव पानी निकल आता है। लोग उसे पीते हैं। जैसे नारियलमें पानी पता नहीं कहांसे आ जाता है, इस ही प्रकार उदय ठीक होने पर पता नहीं कि योग्य सामग्री वैभव कहां से आ जाता है ? और कभी देखा होगा—हाथी कैथ खा ले और लीदमें वह कैथ निकले तो वह कैथ यों देखनेको मिलेगा कि उसमें किसी भी ओर छेद नहीं हुआ है और वह कैथ अन्दरसे पूरा खोखला हो गया है। उसे उठाकर, धोकर उसका वजन करो तो कोई तोला दो तोलाका ही निकलेगा। तो पाव डेढ़ पाव कैथके अन्दरका गूदा कहांसे निकल गया है। न उसमें कहीं छिद्र दिखाई दे, न कहीं दरार दिखाई दे, फिर भी वह गूदा कहां से निकल गया इसका कुछ पता नहीं चलता। इसी तरह उदय प्रतिकूल होने पर वर्षोंकी संचित लक्ष्मी भी कहांसे निकल जाती है, इसका कुछ पता नहीं पड़ता।

विश्वास्य और अविश्वास्य तत्त्वके अनुभवके लिये प्रेरणा.— भैया ! यहां कौन विश्वासके योग्य है ? बाह्यसमागम तो अनुकूल उदय होने पर सहज मिल जाते हैं और प्रतिकूल उदय होने पर टल जाते हैं। श्रीराम, श्री सीता जैसी प्रीति और सौभाग्यका उदाहरण और क्या माना जाय ? परन्तु उदय प्रतिकूल हुआ तो सीता जी को अकेले जंगलमें भटकना पड़ा। किस पर विश्वास करते हो कि ये मेरे जन्मभरके सहायक हैं, कौन से विषयसाधनोंमें दृष्टि लगाये हो कि यह वैभव यह विषयसाधन मेरेको सुख देने वाला है। बाह्यके समागम सब भयके स्थान हैं, किन्तु जिससे डर खा रहे हो वही निर्भयताका स्थान है। अनुभव करके देखलो—जिसकाल चेतन, अचेतन समस्त परिग्रहोंका विकल्प तोड़कर अपने आपमें निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप निजप्रकाशका अनुभव किया जा रहा हो उस कालमें अपने आपके अन्तरमें से जो आनन्द झरता है उस आनन्दको देखो और विषयसुखोंमें तृष्णा करने से जो विपदायें आती हैं उन विपदाओंको नजर में लो, कितना अन्तर है ? पर जो जहांका कीड़ा है उसका वहां ही मन लगता है।

विषयव्यामोही की रुचिपर एक दृष्टान्त— दो सखियां थीं ? एक थी धीमरकी लड़की और एक थी मालिनकी लड़की। बचपनमें वे दोनों एक साथ खेला करती थीं। विवाह हो गया उनका जुदे-जुदे नगरोंमें। मालिन की लड़कीका विवाह हुआ शहरमें और ढीमरकी लड़कीका विवाह हो गया

किसी गांवमे। सो मालिन तो फूलोंका हार बनाना, फूलोंकी शैया सजाना ऐसा ही काम करे और यह धीमरकी लड़की मछली मारे, बेचे और खाये यही पेशा करे। एक बार धीमरकी लड़की शहरमें पहुंच गयी मछलीका टोकरा लेकर मछली बेचनेके लिए। शाम हो गयी तो सोचा कि आज सहेलीके घर रह जायें। पहुंची सहेलीके घर। बड़ा आदर किया उसने। खाना खिलाया, रातके ९ बज गए। बहुत बढ़िया पलंग बिछाया और उसे फूलों की पंखुड़ियोंसे खूब सजाया।

जब धीमरकी लड़की सोने लगी तो अब धीमरकी लड़की को वहां नींद न आये, मारे फूलोंकी गंधके इधर उधर करवटें बदले। मालिन की लड़कीने पूछा—सहेली! तुम्हें नींद क्यो नहीं आती है? सो धीमरकी लड़की कहती है कि सहेली क्या बताऊँ, यहां तुमने फूलोंकी पंखुड़ियां बिछा रक्खी हैं इनकी बदबूके मारे सिर फटा जा रहा है। इन्हें अलग कर दो तो शायद नींद आ जाय। फूलोंको अलग कर दिया, फिर भी नींद न आए, क्योंकि वह गंध तो उन कपड़ोमें बस गयी थी और कमरेमें भी फैल गयी थी। फिर मालिन की लड़की ने पूछा कि सहेली! तुम्हें नींद क्यों नहीं आती है? तो बोली—अरे बदबू तो कमरे भरमे भर गयी है, नींद कहां से आये? एक काम करो—हमारा जो मछलियोका टोकरा है उसे हमारे सिरहाने रख दो और उसमें पानीके छींटे डाल दो। उसने वैसा ही किया। जब मछलियोंकी दुर्गन्ध सारे कमरेमे फैली तब उस बेचारी धीमर की लड़की को नींद आयी। ऐसे ही रात दिन पंचेन्द्रियके विषयोंकी धुन रहती है जिन मनुष्योंको, उन मनुष्योंको ज्ञान वैराग्य सोहं, अहं, अन्तस्तत्त्व की बात कहासे सुहाये?

योग्यतानुसार परिणमन— भैया! बैठ जायें विषयव्यामोही मनुष्य मन्दिरमे तो इससे क्या, बैठ जाये किसी धर्मस्थानमें तो उससे क्या, परिणमन तो वही चलेगा जैसी कि योग्यता होगी। एक बार बादशाह कहीं जा रहा था तो उसे एक गडरियेकी लड़की दिखी, जो कि रूपवान् थी, वह उस राजाको सुहा गयी और उसीसे ही विवाह करवा लिया। अब वह गडरिये की लड़की राजमहलमें पहुच गयी। उसने वहां बड़ा हाल खूब सजा हुआ देखा, जिसमे अनेक चित्र थे, नाना तरहके फोटो थे, वीरोंके फोटो, ऐतिहासिक पुरुषोंके फोटो, वर्तमान महापुरुषोंके फोटो तथा भगवान् इत्यादिके फोटो वहां पर लगे हुए थे। वह गडरियेकी लड़की सभी चित्रोंको देखती जाये, पर उसका कहीं मन न भरा। यह रामकी फोटो है, होगी। यह शिवाजीकी फोटो है, होगी। बड़े बड़े पुरुषोंकी फोटो

देखी, पर किसी पर दृष्टि न थमी। एक फोटोमें दो बकरियां बड़ी सुन्दर बनी हुई थीं उसको देखकर उसकी दृष्टि थम गई और टिक्‌ टिक्‌की आवाज करने लगी। तो गडरियेकी लड़कीको बड़े शोभा वाले महलमें बैठाल दिया तो भी अपनी धुनके अनुसार ही, वासनाके अनुसार ही अपनी प्रवृत्ति कर गयी। रात दिन मोह विषय सुख ममता ही मे बसने वाले पुरुष मूढ़ आत्मा व्यामोही जन, मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित्‌ अपने मानको बढ़ानेका कारणभूत जो मन्दिर बना रखा है, धर्मस्थान है वहा पर भी रहे तो भी उसकी प्रकृतिमें वह स्थान अन्तर कहांसे डाल देगा? वह तो वहां भी विषयोंकी बात ही सोचेगा।

क्लेश साधनोंसे हटकर आत्महितकी ओर— कितने क्लेश हैं परिग्रहमें, विषयोंके साधन जुटानेमें, किन्तु इन क्लेशोंको स्वयं जानते भी होंगे तो भी उसको विवेकमें नहीं ला सकते। किसे नहीं मालूम कि कितने झंझट हैं, पर फिर भी उसे उस झंझटमें ही अपना जीवन दिखता है कि इनको छोड़कर या इनसे राग कम करके हम और कहां पलेंगे, कहां पुषेंगे? भैया! क्लेशसाधनोंसे हटकर आत्महितकी ओर आवो। जहां हित है, सुख है वह है ज्ञान और वैराग्य। जहां स्वस्थ चित्त होना, ज्ञानकी ओर उन्मुखता हो उसके आनन्दको कौन प्राप्त कर सकता है? वह ज्ञान क्या है इस ही बातका वर्णन कल आया था। कैसी भावना करके यह जीव उस ज्ञानस्वरूप पर पहुंचता है वह भावना है सोहकी। वह मैं हूं। मै वह हूं जो हैं भगवान्, जो मैं हू वह हैं भगवान्। यह कारणपरमात्मतत्त्वकी दृष्टि रखकर समझना। नहीं है मुझमें भगवान् जैसा स्वरूप, तो कैसा भी यत्न करें मुझमें भगवत्ता प्रकट हो ही नहीं सकती।

ज्ञान और वैराग्यकी अविनाभाविता— ज्ञान और वैराग्य परमार्थ से दो बातें अलग-अलग नहीं हैं किन्तु मर्मका जिन्हें परिचय नहीं है वे यों ही जानते हैं कि ज्ञान बात और होती है, वैराग्य बात और होती है। यहां सूक्ष्म विवेचन भी नहीं करना है और मूढ़ दृष्टि भी नहीं रखना है। अभेद भाव का सम्बन्ध बनाकर निर्णय करना है। लोग यों जानते हैं कि घर त्याग दिया, चीजें छोड़ दीं तो लो वैराग्य हो गया। घर त्याग दिया तो राग लग गया और तरहका। कोई एक खानेकी चीज छोड़ दे तो तृष्णा लग गयी दूसरी चीजके खानेकी। नमक छोड़ दिया तो अब मीठा और मुनक्का किसमिस होना ही चाहिए, ऐसा परिणाम रक्खे तो अभी राग कहा छूटा, नमक ही छूटा। या परिवार छोड़ दिया तो जिस समागममें रहते हैं वहां ही मैं, मैं, मेरा, मेरा चलता रहता है। जो भी

वस्तुवें कपड़े लत्ते जो भी पासमें हैं उनकी संभाल, उनकी ममता, उनका सचय करने की ही भावना हो, दूसरों को उपयोगी वस्तु देनेकी जहां भावना न रहती हो, वहां घर छोड़ने से क्या सुख पाया ?

वैराग्य अलग चीज नहीं है, ज्ञानका ही रूप वैराग्य है। ज्ञानको छोड़कर वैराग्य कहीं अलग नहीं रक्खा है। वैराग्यका अर्थ है रागभावका न रहना। अच्छा रागभाव न रहा तो रहा क्या ? ज्ञान इसका स्वरूप है। ज्ञान कभी टलता नहीं। तो इस ज्ञानका ज्ञानरूप रह जाना यह ही तो वैराग्य है। मूलमे जब तक इस मर्मको पाया जाय तब तक वैराग्यकी दशा मे प्रगति नहीं हो सकती है। ज्ञान और वैराग्यमे वह शक्ति है जिस शक्तिके प्रसादसे किसी भी स्थितिमे रहकर बंधन नहीं होता है।

वैराग्यसहित ज्ञानकला— ज्ञानी विरक्त पुरुष उदयवश कदाचित् विषयोंको सेवता हुआ भी सेवक नहीं कहलाता है। भोगता हुआ भी भोक्ता नहीं कहलाता है। किसी लड़के को जबरदस्ती मारकर मुखमे कौर देकर खिलाये तो क्या बालक खाने वाला कहला सकता है ? जब खानेमे उपयोग ही नहीं है, कुछ भी चाह नहीं है, जबरदस्ती का खाना है तो वह भोग क्या कहलायेगा ? ज्ञानी पुरुपको शुद्ध ज्ञानस्वभावमें रमनेका ऐसा दृढ़ चित्त है कि वह उसही ओर झुका रहता है। इतने पर भी कर्मोदयकी कोई ऐसी प्रेरणा होती है कि किन्हीं कार्योंमें पड़ना भी पड़े, भोगना भी पड़े तो भी सब गले पड़ेकी बात है। वह भोगता नहीं है। वह भोगता हुआ भी नहीं भोगता है, यह बात सुननेमें तो सरल लगती है पर वह कौनसा परिणाम है जिस परिणामके होने पर इसकी भोगनेकी ओर मन, वचन, कायकी क्रियाएँ नहीं चलतीं, किन्तु प्रेरणावश चलना पड़ता है। ऐसा शुद्ध ज्ञान और वैराग्यका जो परिणाम है वह तो आया नहीं और भोगता हुआ भी भोगता नहीं है, हम भी भोगते हैं, हमें भी क्या दोष होगा ? भोग तो कर्मोंकी निर्जराके लिए हैं। तो कहीं नाममात्रके जैन होने से कर्मोंके बन्धन में फर्क नहीं आ जाता है, किन्तु जिस कलासे, जिस कर्तव्यसे, जिस ज्ञान और वैराग्यसे कर्मोंके बन्धनमें अन्तर आया करता है वह कला आये तो बन्धन नहीं होता। यह मूढ आत्मा जिससे डरता है, जिस तत्त्वसे भय खाता है वही तो अभयपद है।

प्राणीकी स्वार्थवृत्ति— जगत्मे किसका विश्वास हो ? जो भी अनुकूल होता है वह अपनी ही किसी भावनासे, वासनासे हुआ करता है वस्तुतः कोई किसी पर न्यौछावर नहीं होता है। गरज पड़े कुछ हो। परसों की बात है जंगलमें कुटियाकी छतपर बैठा हुआ मैं देख रहा था कि एक

गिलहरी ४ अंगुलका एक रोटीका टुकड़ा लिए जा रही थी। चार पाच चिड़ियां उस टुकडेको छीननेके लिए उसके पास आती थीं। वह गिलहरी उस रोटीके टुकड़ेको लिए हुए भागती फिरे सारे बागमें घूम आई, आपत्ति न टले। फिर वह गिलहरी हमसे डेढ़ हाथ दूर पर वह रोटीका टुकडा लिए हुए बैठ गयी। अब वहां चिड़ियां कैसे आएँ? फिर वहां दोनों हाथोसे उठा उठाकर उस गिलहरी ने आनन्दसे रोटी खायी। फिर कलके दिन उन ही गिलहरियोंको अपने पास बुलाया तो कोई भी गिलहरी पास नहीं आयी। जब उसे किसी अभय स्थानमे रोटी खाना था तो हमारे पास ही बैठकर नोच-नोच कर रोटी खा ली।

सोऽहंकी भावनामें अभयत्वका समर्थन— भैया! जब कोई स्वार्थ होता है और जहां देखते हैं कि इस स्थानमें हम अभयपूर्वक रह जायेंगे, सो वे रह लेते हैं, लेकिन किसीके प्रति क्या विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वह मेरा पूरा विश्वासी ही है? नहीं। तो यहा यह बताया है कि मूढ आत्मा जहा विश्वास बनाये है वही भयका आस्पद है और जिससे भयभीत है उसका अभय स्थान उससे अतिरिक्त अन्य नहीं है। जिससे यह मोही आत्मा भय खाता है, उसही तत्त्वको कल बताया गया था। सोहंकी भावनामें वह तत्त्व आया था। यहां उस ही के समर्थनमें व्यावहारिक बात कही। अब आगे उसही तत्त्वकी प्राप्तिके उपायमें वर्णन चलेगा।

अभयपदके उपायके वर्णनका उपक्रम— एक मात्र शरणभूत निज-परम स्वभावका अनुभव ही अभयपद है और इस तत्त्वकी भावनासे ही आत्मामें स्थिति होती है, अनाकुलता प्रकट होती है। इस तत्त्वसे मोही-जन भय खाते हैं। इसकी चर्चा भी सुनने को उनका मन नहीं करता, इसके प्रयोगकी तो बात दूर ही रहे, किन्तु जिस तत्त्वसे मूढ घबड़ाते है, भयभीत होते हैं वह तत्त्व अभयपद है और जिस तत्त्वमे विश्वास करते हैं मोही जीव वही इसका विपदाका स्थान है। वह पद है, जो अभय अनाकुल बनता है, चैतन्यस्वभाव। वह मिले कैसे? इसके उपायमें पूज्यपाद स्वामी अगले श्लोकमें कह रहे हैं—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

इन्द्रियसंयमकी प्रथम आवश्यकता— समस्त इन्द्रियोको संयत करके परमविश्राममें आकर इस अन्तरात्माके द्वारा क्षणमात्र जो कुछ दिखता है, इस ज्ञानी पुरुषके जो समझमे आता है वही परमात्माका तत्त्व है। इस परमतत्त्वकी प्राप्तिके उपायमें सर्वप्रथम यह बात कही जा रही है

कि समस्त इन्द्रियोंको संयत करें, वश करें। पंचेन्द्रियके विषयोंमे यह सारा जगत् विपन्न हो रहा है।

स्पर्शनेन्द्रियविषयका परिणाम— देखो एक स्पर्शन मात्रके विषयका लोभी बनकर हाथी जैसा विशाल बलवान् जानवर मनुष्यके वश हो जाता है। हाथी पकड़ने वाले लोग जंगलमें गड्ढा खोदते है, उस गड्ढे पर बांसकी पंचें बिछाकर उसपर एक सुन्दर झूठी हथिनी बनाते हैं और ५०, ६० हाथ दूर पर उस हथिनीके पास दौड़ता हुआ हाथी आ रहा है ऐसी आकृतिका हाथी बनाते है। जब जंगलका हाथी उस हथिनीके विषयकी कामनासे दौड़कर आता है, सामने दूसरा हाथी दिखता है, इस कारण और भी तेजी से आता है। उन पंचों पर पैर रक्खा कि वे बांस टूट जाते हैं और हाथी गड्ढेमे गिर जाता है। कई दिन तक भूखा वहीं पड़ा रहता है, शिथिल हो जाता है। फिर धीरे से रास्ता निकाल कर अकुशसे वश करके उस हाथी को मनुष्य अपने आधीन कर लेते है।

रसनेन्द्रियविषयका परिणाम— रसना इन्द्रियके विषयके लोभमे आकर ये मछलियां फंस जाया करती हैं। थोडे मांसके लोभमें आकर कांटेमे अपने कठ को फसा कर प्राण गँवा देती है। ढीमर लोग बांसमे डोर लगाते हैं और डोरके अंतमें कोई कांटा लगाते हैं और उसमे कुछ केंचुवा वगरह उस पर चिपका देते हैं, उसे पानीमे छोड़ देते हैं। मछली उस मांसके लोभमे आकर मुँह पसार कर उसे खा जाती है, उसमे लगा हुआ काटा कठमे छिद जाता है, प्राण गँवा देती है।

घ्राणेन्द्रियविषयका परिणाम— घ्राणेन्द्रियका विषय देखो—भँवरा शामको कमलके फूलमे बैठ गया सुगधके लोभसे, अब शामको कमल बद हो जाया करता है। सो या तो उस कमलमें पड़े-पड़े श्वास रुक जाने से गुजर जाता है, या कोई जानवर हाथी आदिक आये और उस फूलको चबा डाले तो यों मर जाता है। एक घ्राणेन्द्रियके विषयके लोभमे उस भंवरे ने अपने प्राण गंवा दिये।

चक्षुरिन्द्रियविषयका परिणाम— चक्षुरिन्द्रियके विषयोंकी बात तो सामने हैं। जलते दीपकको देखो उस पर पतंगे गिरते है और वे मर जाया करते है। वे देखते रहते हैं दूसरे मरे हुए पतंगोंको, फिर भी उनकी संज्ञामें ऐसी धारणा है कि वे भी उस ही लौ पर गिरते हैं और मर जाते है।

श्रोत्रेन्द्रियके विषयका परिणाम— श्रोत्रइन्द्रियके वशमें सांप पकड़े जाते हैं, हिरण पकड़े जाते हैं। इन जीवोंको रागका बड़ा शौक है। सपेरे

लोग अपना बाजा बजाते हैं और सांप फन फैलाकर उठकर उस गानेको बड़े चावसे सुनते हैं। सपेरा जानबूझकर रागको जरा बेसुरीला कर देता है। एक अंगुली भर ही अटपट बैठानेकी ही तो जरूरत है, वह बीनवाजा एक सेकेण्डके कई हिस्से भाग प्रमाण समयमें बेसुरीला राग हो जाता है, तो सांप गुस्सेमें आकर उस बाजे पर फन मार देता है, उसे नहीं सुहाता है वह बेसुरीला संगीत। इतना शौकीन होना है सांप संगीत सुननेका। तो सपेरे लोग संगीत सुनाकर सांपको मोहित करके पकड़ लेते हैं, वश कर लेते हैं, यों ही हिरण पकड़े जाते हैं।

यों एक-एक इन्द्रियके विषयमें आकर यह जीव प्राण गंवा देता है और यह मनुष्य पंचेन्द्रियके वश पड़ा है तब क्या हालत है? यहां सामर्थ्य है, पुण्यका उदय है, तत्काल सजा नहीं मिलती है सो उस ही व्यामोहमें पड़ा हुआ है पर एकदम ही इसका फल सामने आ जाता है। जरूरत है इस बातकी कि हम इन्द्रियके वश न रहें, हमारे वश इन्द्रियां रहें। यह सब अपनी रुचि और भवितव्यकी बात है।

गृहस्थधर्ममें प्रथम कर्तव्य— व्यावहारिक धर्म दो प्रकारके बताये गये हैं—एक गृहस्थ धर्म और एक साधुधर्म। साधुधर्म तो अगर निभ जाय किसी से तो वह उत्कृष्ट है ही। वहा तो आनन्दके झरने ही सदा झरते हैं, किन्तु गृहस्थ धर्म भी कोई विधिपूर्वक पालन करे तो उसमें भी कम आनन्द नहीं है अथवा धर्मपालन वहा भी बहुत है, पर करे विधिसे तो। पहिली बात तो यह है कि जो समागम मिला है, वैभव कुटुम्ब परिवार मित्रजन जो भी मिला है उसको यों जाने कि यह कभी न कभी बिछुड़ेगा, सदा रहने वाला नहीं है, पहिली बात तो यह गृहस्थके मनमें रहनी चाहिए। अब अपनी-अपनी सोच लो कि हम कभी सोचते हैं या नहीं। जो मिले है धन वैभव परिवार वे सब शीघ्र बिछुड़ने वाले हैं। ऐसी मनमें याद आती है या नहीं? फिर ध्यान दो, सोने वाले भाई जग जावें। जो मिला है धन वैभव परिवार वे सब शीघ्र बिछुड़ने वाले हैं, ऐसी मनमें याद आती है या नहीं। यदि नही आती है तो फिर कहीं शिकायत मत करो अपने प्रभुसे, मन्दिरमें या अन्य किसीके पास कि मुझे बड़ा क्लेश है। अरे क्लेशके उपाय तो बड़े किये जा रहे हैं, फिर शिकायत किस बातकी? शिकायत तो उसकी भली लगती है जो बेकसूर पीटा जाय। यदि यह भाव भरा हुआ है कि जो हमें मिला है वह मेरा बड़प्पन है, मैं बड़ा हू, मुझे तो मिलना ही था और इससे ही मेरा जीवन है, और मेरेसे कभी अलग हो ही नहीं सकता। मैं तो बड़ा हूं, इस भावमें

संकट बसे हुए हैं पहिली बात तो गृहस्थमें यह आनी चाहिए। प्राप्त समागम नियमसे शीघ्र बिछुड़ेगा, ऐसी याद होनी चाहिए।

गृहस्थका द्वितीय कर्तव्य— दूसरी बात गृहस्थके लिये परिग्रहका प्रमाण है। यह अत्यन्त आवश्यक है शांतिके अर्थ, क्योंकि परिग्रह जोड़ना संचय करना इसकी तो कोई सीमा नहीं है, फिर आराम कहां मिलेगा? लाख हो गए तो १० लाखकी चाह है, १० लाख हो गए तो ५० लाखकी चाह होगी, ५० लाख हो गए तो करोड़की चाह होगी। उसकी कहां हद है और जब परिग्रह परिमाण नहीं है तो उस तृष्णामे उसे आकुलता ही मिलेगी, शाति न मिलेगी, बल्कि बनी बनाई रोटी भी सुखसे नहीं खा सकेगा। तृष्णामें वर्तमान भोग भी सुखसे नहीं भोगा जा सकता है।

परिग्रहपरिमाणव्रतमे कई पद्धतियोंमे शान्तिलाभ— परिग्रहके परिमाणमें इतनी बात आ जा जाती है कि जितने का अपना परिमाण किया हो, १०, २०, ५० हजारका जो भी किया हो उससे अधिक धनी कोई दूसरा देखनेमें आए तो उसे बड़ा न मानना और उस पर आश्चर्य न करना। वहां यह समझना कि यह इतना अधिक कीचड़मे चिपटा है इस दृष्टिसे निहारना उसे जो अपनेसे अधिक धनी हो। परिग्रहपरिमाणमे ही ये सब बातें गर्भित हैं। परिग्रहपरिमाणमे ही यह बात भी आ जाती है कि उसमे जो आय हो उसके अन्दर हो अपना बटवारा करना और गुजारा करके विभाग बनाने पर धर्म और दानको किसी भी परिस्थितिमे स्थगित न करना, चाहे कैसी ही हालत हो पर ज्ञानधर्मका पालन करे और पाये हुएके मुताबिक विभागके अनुसार उस ही मे गुजारा बनाये, यह काम है गृहस्थका दूसरा।

ज्ञान साधनाका कर्तव्य— अब आगे चलिए अब ज्ञानमार्गमें वह बढ़े, धनसे भी अधिक लोभ ज्ञानका करें। जैसे धनमे यह देखा करते हैं-- अब इतना आ गया, अब इतना हमारे पास है, अब इतना और इसमें जोड़ना है ऐसे ही ज्ञानमे देखे कि मैने इतनी तो तरक्की की, इतना तो ज्ञान पाया, अब और इससे भी अधिक चाहिए। धनकी तृष्णा न होकर यदि ज्ञानकी तृष्णा हो जाय तो यह लाभ दायक बात होगी। ज्ञानसाधना मे अब गृहस्थ विशेष लगे। इस ज्ञान साधनाके उद्यममें वे सब बाते गर्भित हैं—सम्यक्त्व होना, सच्चा श्रद्धान् बनना ये सब बाते उस ही से सम्बन्धित हैं, यह तीसरी बात है।

गृहस्थका अहिंसा व्रत— चौथा उद्यम होना चाहिए--अणुव्रतोंका पालन। व्रतोंका पालन आत्महितकी दृष्टिसे होता है। अहिसाव्रत, त्रस

हिंसाका त्याग और स्थावरकी वृथा, हिंसा न करना यही तो अणुव्रत है, यह व्रत इन्द्रियोंको वशमें करने वाला ही पाल सकता है। आजके समयमें यदि परसेन्टके हिसाबसे पूछा जाय कि मांसाहारी मनुष्य कितने हैं, तो परसेन्ट तो आयेगा नहीं, प्रति हजारमें शायद आ जायेगा एक प्रति हजार मनुष्योंमें एक मनुष्य आजकी इस परिचित दुनियामें असांसाहारी होगा। यहां समुदाय जरा अच्छा बैठा है, आप हम जिस गोष्ठीमें रहते हैं मांस से बहुत दूर रहते हैं। यहां सुननेमें तो ऐसा लगता होगा कि एक प्रति-हजार कह रहे हैं, यहा तो सारे अमांसाहारी दिख रहे हैं, पर दुनिया की निगाह करके देखो—अपने ही देशमें देख लो पजाब, बंगाल, मद्रास इत्यादि कितने लोग मांसाहारी हैं और सफर करते हुएमें अगर बहुत लम्बे चले जावो तो देखो यह बात बहुत अधिक फिट बैठ जायेगी कि ठीक है, एक प्रति हजार लोग अहिंसा अणुव्रत पालते हैं। इन्द्रियोंको संयत करे तो अणुव्रतोंका पालना हो सकता है। अहिंसक वृत्तिसे रहे। गृहस्थ एक संकल्पी हिंसाका त्यागी नियमसे होता है और शेष आरम्भी उद्यमी विरोधी हिंसावोंका त्याग भी यथापद होता है, पर पालते हैं वे भी अहिंसा व्रत।

गृहस्थका सत्य एव अचौर्य व्रत— सत्य अणुव्रत, सच बोलना, किसी की निन्दा न करना, चुगली न करना, पीठ पीछे दोष न करना, अहितकारी वचन न बोलना ये सब गृहस्थके कर्तव्य हैं। करे कोई गृहस्थ अपने व्यवहारमें ऐसी वृत्ति तो वह स्वय शांतिका अनुभव करेगा। यह होड़ किससे लगाते हो? किसी भलेसे होड़ लगावो तो वह अच्छी है। पर यहा तो प्रायः सभी मोही हैं, तृष्णावान् हैं, मिथ्याभाव कर भरे हैं, होड़ लगावो तो किसी ज्ञानी सतकी या प्रभुवरकी। मैं भी ऐसा बनूँगा, होऊँगा। इस संसारमें बाहरमें किसकी होड़ लगाते जा रहे हो? न वैभव हुआ ज्यादा तो क्या हर्ज है? वैभव ज्यादा हो तो छोड़कर जाना, कम हो तो छोड़कर जाना, रही सही जिन्दगीको सतोष और शांतिसे बिता लेना, यह सामने काम बड़ा है, संचयका काम नहीं है। इस सद्गृहस्थके परवस्तुके चुरानेका भाव भी नहीं होता है। जिसको ज्ञानकी प्राप्ति होती है उसको दूसरी चीजोंके जोड़ने का परिणाम भी नहीं होता है। वह अणुव्रतका पालक होता है।

गृहस्थका स्वदारसतोष व्रत— गृहस्थावस्था एक अशक्त अवस्था है। इस अवस्थामें साधुके सिंहवृत्तिकी नाई निर्भय और स्वतत्र रह सके यह कठिन बात है। इसी कारण गृहस्थने विवाह किया है जिससे कि वे संसार

की समस्त परनारियोंके विषयमें मलिन भाव करने से बच जायें। उसमे भी एक धर्मधारणका अभिप्राय है। रहते हैं वे स्वदारव्रत से।

स्वयंका कर्तव्य— यहां यह चर्चा चल रही है कि गृहस्थधर्ममे भी सुख और शांति कैसे प्राप्त हो ? करे बिना क्या होगा ? घरमे कभी बीच की छत गिर जाय, आंगनमें कूड़ा गिर जाय तो कोई दूसरा उस कूड़े को साफ करने न आयेगा, आपको ही साफ करना होगा या प्रबंध आपको ही करना होगा। अपने आपमें जो अहित और विषयकषायोंकी विपत्तियां ढाई हुई हैं इस कूड़े कचड़ेको कोई दूसरा मित्र अथवा प्रभु साफ करने न आ जायेगा। हम ही को सफाई करनी होगी। यों इन आचारोंका पालन करो।

सद्वृत्ति और सहज भान— इन आचारोंका पालन करनेमे सामर्थ्य बने, उत्साह बने, इसके लिए प्रतिदिन षट् कर्तव्य करें—देवपूजा, गुरुवोंकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। ऐसी सद्वृत्तिसे गृहस्थ रहे तो उसका यह व्यवहारधर्म भी इसकी शांतिके लिए बहुत कुछ साधक होगा। यों जो भी आत्महित करना चाहे उसको इन्द्रियोका वशमें करना यह प्रथम आवश्यक होता है। इन्द्रियके विषयोंमे इतना तो समय गँवाया, कुछ लाभ मिला, कुछ हाथ रहा, कुछ ज्ञान बढ़ा, कुछ बल बढ़ा ? कोई हितका साधन बढा हो तो बतलावो। मिला कुछ ही नहीं, खोया सब कुछ है। तो अब कुछ क्षण उन समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका विकल्प तोड़कर अपने आपमे स्तमित होकर, परमविश्रांत बनकर जरा देखो तो स्वयं सहज अपने आपमे क्या भान होता है ?

अनात्मतत्त्वका असहयोग भैया ! धर्मामृतपान के प्रकरण में समस्त परद्रव्योंको अपने उपयोगसे हटा दें। जो कुछ भी इस ज्ञानमें आये तुरन्त कहो—जावो हम ज्ञानमे नहीं चाहते हैं। मैं तो कुछ भी न जानूँ ऐसी स्थिति बनानेको दृढ़ संकल्प होकर बैठा हूं। जावो जी तुम भी। परतत्त्वों को अपने ज्ञानमें न लो। ऐसी स्थितिमें एक परमविश्राम मिलेगा। उस विश्राममें अपने आपही सहज अपने आपमें जो कुछ भान होगा वह होगा ज्ञानस्वभावका भान। उस ज्ञानस्वभावके भानके समय जो अनाकुल अवस्थाका अनुभव होगा बस ऐसा ज्ञानानन्द मात्र ही तो परमात्माका तत्त्व है, जिस तत्त्वके अनुभवसे सकल बाधाएँ टल जाती हैं। इस परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिए बड़े-बड़े राजा महाराजाओं ने भी, चक्रवर्तीगणों ने भी सब कुछ पाये हुए को त्यागकर गात्रमात्र ही रहकर अपने आपमें विश्रामके उपायसे इस परमात्माके तत्त्वका दर्शन किया है और इस ही

परमतत्त्वकी भक्तिके प्रसादसे कर्मकलंक टले और उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई।

सहज तेज— यह मैं शुद्ध सहज परमात्मतत्त्व हूं जिस तेजमें लीन होकर अनेक संत पुरुषोंने निर्वाण प्राप्त किया। जो तेज समस्त रागादिक विकारोंसे परे है, जिस तेजमें ऐसी अपूर्व सामर्थ्य है कि अनेक भवके संचित कर्म भी इसके आगे टिक नहीं सकते। ऐसे परम तेजोमय परमात्म तत्त्वका भान इस अन्तरात्माके होगा।

सत्यका आग्रह और परमात्मतत्त्वका दर्शन— देखो भैया! इन्द्रिय को वश न करे और इन्द्रियोंकी आज्ञामें चले तो थोड़ी देर बाद फिर स्वयं को ही पछताना पड़ता है। कोई अधिक पछताये, कोई कम पछताए, पर प्रायः इन्द्रियविषयसाधनके बाद कुछ न कुछ पछतावाकी बात आ जाती है। और कोई बड़ा ही मूर्ख हो, मूढ़ हो, मोही हो, तो वह पछतावेकी स्थितिसे भी अधिक बुरी स्थितिमें आ जाय, तिस पर भी उसे पछतावेकी बुद्धि नहीं होती है। ये समस्त इन्द्रियविषय इस जीवको बरबाद करनेके ही हेतु हैं। इस कारण सब इन्द्रियोंको संयत करके, वश करके, नहीं देखना है कुछ, आखें बंद किए बैठे हैं। नहीं सुनना है कुछ, विमुख होकर बैठे हैं। नहीं सूँघना है, उस ओर उपयोग नहीं दे रहे हैं। नहीं चखना है कुछ, नहीं छूना है कुछ। अपने आपमें अपने आपको ही दर्श पर्श करेंगे ऐसे संकल्पके साथ सर्वइन्द्रियोंको संयत कर दें, विषयोंको रोक दें तो वहां इस जीवको क्षण भर जो तत्त्व दिखेगा बस वही तत्त्व परमात्माका मर्म है, परमात्माका स्वरूप है। ऐसा इस परमात्मातत्त्वके बारेमें संकेत किया गया है।

इन्द्रियविजयके उपायके वर्णनका संकल्प— सोहं की भावनामें जिस शरणभूत कारणपरमात्मतत्त्वका लक्ष्य किया जाता है उस तत्त्वकी प्राप्तिका उपाय क्या है? इस सम्बन्धमें यह वर्णन चल रहा है। समस्त इन्द्रियोंको संयत करना सर्वप्रथम काम है। ये हतक इन्द्रिय जिसे कि लोभ क्षोभमें आकर कहते हैं हत्यारी इन्द्रियां, ये जीवका अहित करने वाली हैं। इन इन्द्रियोंको अहितकारी जानकर संयत करनेका उद्यमी पुरुष क्या कार्य करता है? इस सम्बन्धमें उपाय कहा जा रहा है, बड़े ध्यानसे इसका उपाय सुनिये जो कि अमोघ उपाय है।

इन्द्रियविषयोपभोगमें त्रिगुट्टका सहयोग— सर्व प्रथम यह जानों कि ये इन्द्रियां जब उद्दण्ड होती हैं तब अपने विषयोंमें इस आत्माको लगाकर बरबाद करने पर तुली हुई होती हैं, उस समय स्थिति क्या होती है? आकुलता होती है, यह तो फलित बात है, पर हो क्या रहा है इस प्रसंग

में ? तीन बातें समझनी हैं। द्रव्येन्द्रियकी प्रवृत्ति, भावेन्द्रियकी वृत्ति और विषयोंका सग। किसी भी इन्द्रियका विषय भोगा जा रहा हो, इसमे तीन बातें आया करती हैं—विषयोंका संग होना, द्रव्येन्द्रियकी प्रवृत्ति होना और अन्तरमे भावेन्द्रियका वर्तना।

त्रिगुट्टका परिचय— भैया ! इस त्रिगुट्टको स्पष्ट यों समझिए। जैसे रसना इन्द्रियका विषय भोगना है तो रसना इन्द्रियके विषयभूत साधन रसीले पदार्थ हैं, उनका समागम होना। प्रथम बात न हो कुछ रसीली चीज तो रसविषयको भोगा कैसे जाय ? सो प्रथम बात तो विषयोंका संग होना आवश्यक है। विषय पासमें पड़े हैं पर यह लपलपाती हुई जिह्वा उस विषयका स्पर्श न करे, उस विषयमें यह जीभ प्रवृत्ति न करे तो उपभोग कैसे होगा ? इसलिए द्रव्येन्द्रियकी प्रवृत्ति होना भी आवश्यक है। विषय समागम हुआ, द्रव्येन्द्रिय भी लग गयी, पर अन्तरमें भावेन्द्रिय न प्रवर्ते तो यों मुर्देके शरीर पर भी भोजन रख देने पर भोग तो नहीं होता। सो अन्तरकी खण्ड ज्ञानभावना है इसकी भी वृत्ति होना आवश्यक है। लो, यों विषयप्रसंगमे तीन बातें हुई। अन्तरमें खण्डज्ञानका उदय अर्थात् भावेन्द्रिय की प्रवृत्ति, दूसरी बात द्रव्येन्द्रियकी प्रवृत्ति, चमड़े पर जो इन्द्रियां लगी हैं, जीभ है, नाक है, आंख हैं इनकी प्रवृत्ति और तीसरी बात है विषयोंका सग मिलना। यह विषय तो इन्द्रियविषयभोगकी बात का है। अब इन्द्रियविजयकी बात सुनिये।

त्रिगुट्टके विजयका उपाय, परमोपेक्षा— इन्द्रियके विषयोंको विजय करना है तो स्वय पर पुरुषार्थबल करो तो विजय होगी। विषयों पर विजय होना, द्रव्येन्द्रियपर विजय होना और भावेन्द्रियपर विजय होना यही अपूर्व पुरुषार्थबल है। इसके विजयकी तरकीब क्या है ? तरकीब बिल्कुल सीधी है। जिस पद्धतिमें भोग होता है उसका उल्टा चलने लगें, लो विजय हो गयी। कोई दुष्ट साथ लगकर पद-पदपर दुःखका कारण होता हो तो उसके विजयका साधन, कारण उपेक्षा कर देना है। कोई मनुष्य दुष्टकी उपेक्षा तो न करें, स्नेह जताए और फिर उससे पिंड छुड़ाना चाहे ऐसा नहीं हो सकता। तो तीनोंकी उपेक्षा करे उसमे इन्द्रियविजय होती है।

भावेन्द्रियके विजयका उपाय— अब किस तरह इस त्रिगुट्टकी उपेक्षा करें, एतदर्थ पहिले इसका स्वरूप जानो। भावेन्द्रियका स्वरूप है खण्डज्ञान। जैसे रसको भोगा जा रहा है और कोई पुरुष सारे विश्वको जाने उस कालमें रसको भोग सके, क्या ऐसा हो सकता है ? केवल रसका

ज्ञान करे, रसमें ही आसक्ति रक्खे तो रसका भोग होगा। यह भावेन्द्रिय है खण्डज्ञानरूप। इस भावेन्द्रियपर विजय करना है तो अपने आपको अखण्ड ज्ञानस्वरूप विचारो। अखण्ड ज्ञानस्वरूप अपने आपका ध्यान किया तो खण्डज्ञान पर विजय हो जायेगी। देखो ना, विषयवृत्तिसे उल्टा चले तब विजय मिलेगी।

द्रव्येन्द्रियके विजयका उपाय— द्रव्येन्द्रियका स्वरूप है जड़ पौद्गलिक अचेतन, सब जानते हैं। जो चाम पर बनी हुई इन्द्रिया हैं वे सब जड़ हैं, अचेतन हैं। इन जड़ अचेतन द्रव्येन्द्रियोंपर विजय हो सकती है तो जो इनका अचेतनस्वरूप है उसके विपरीत अपनेको सोचने लगें। ये द्रव्येन्द्रिय अचेतन हैं, मैं चेतन हू। जहां रही सही लिपटी मित्रता दूर हुई, तहां चैन हुई। परकी मित्रता समाप्त होना आनन्दके लिए है। यह जगत्का मोही प्राणी इन भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय एवं विषयोंमें राग बनाए हुए है। जब तक इन तीनोंका राग नहीं छूटता तब तक इन्द्रियविजय कैसे हो सकती है ? ज्ञानकला तो जगे नहीं और बाह्यपदार्थका हम त्याग करें तो फल यह होगा कि छोड़ दिया मीठा, किन्तु इच्छा यह लगेगी कि किसमिस छुहारा कुछ चीज तो लावो संगमें, काम कैसे चलेगा ? कुछ फोड़े ऐसे होते हैं कि ठोस जगहके फोडेको यदि दबा दो तो दूसरी जगह फोड़ा निकलेगा। उस फोड़ेका नाम क्या है, हम भूल गए, किन्तु ऐसा होता तो है न, यों ही ज्ञानकला विना बाह्यपदार्थोंके त्यागका लक्ष्य भी बनायें तो वस्तुतः त्याग नहीं हो पाता। यह इन्द्रियविजयका अमोघ उपाय आध्यात्मिक ज्ञानी संत पुरुषोंकी परम्परासे चला आया हुआ है। द्रव्येन्द्रियका विजय होता है अपने आपको चेतन मानकर अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव करने से।

विषयविजयका उपाय— विषयोंका नाम है संग, इन सबोंका विजय करना है तो अपनेको असंग ध्यान करने लगो। मैं असंग हूं, विविक्त हूं, समस्त पदार्थोंसे त्रिकाल न्यारा हूं, किसी भी समय अणुमात्र भी परद्रव्यों से मेरा मेल नहीं है। यों अपनेको असंग चेतन अखण्ड ज्ञानस्वरूप अनुभव करनेके परिणाममें इन्द्रियविजय होती है। जब तक इन्द्रियसंयम नहीं होता तब तक इस जीवको परमात्मतत्त्वका दर्शन नहीं हो सकता है। यों परमात्मतत्त्वके दर्शनके प्रकरणमें इन्द्रियसंयमका उपाय कहा गया है।

परमात्मतत्त्वका दर्शन— यह जीव समस्त इन्द्रियोंको संयत करके अपने आपमें स्तिमित होकर गुप्त रहकर चुपचाप वृत्तिसे अन्तरात्मत्वके बलसे जो कुछ क्षण भरको इसको आभास होता है, भान होता है, दर्शन

होता है यही तो परमात्माका तत्त्व है। इनने जानने के बाद अब ज्ञानी जीवकी क्या स्थिति होती है अथवा उसका क्या एक निर्णय रहता है? इस विषयको अब कह रहे हैं।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

प्रभुत्वका एकत्व— जो पर-आत्मा है, उत्कृष्ट आत्मा है, परमात्मा है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह ही तो मैं हूं और जो मैं हूं वह ही परमात्मत्व है। यहां ज्ञानीपुरुष स्वभाव दृष्टि करके देख रहा है, पर्यायदृष्टिसे नहीं। पर्यायदृष्टिसे जो परमात्मा निरखा जाता है वह विकास तो हम आपमें है नहीं। यदि होता तो मोक्षमार्गमें लगनेकी क्या आवश्यकता थी? किन्तु जो कार्यपरमात्मा हैं उनमें भी स्वभाव अवश्य पड़ा हुआ है। शक्ति शाश्वत है। जिस शक्तिकी व्यक्ति उनकी सर्वथा प्रवर्त रही है वह शक्ति जो कि यथार्थ पूर्णव्यक्त हो गया है, जो वह शक्तिस्वरूप है वह ही मैं हूं। यहां स्वभावको निरखा है। शक्तिका शक्तिसे नाता जोड़ा गया है। विकास का विकासके साथ सम्बन्ध नहीं देखा जा रहा है। तो उस शक्तिके नातेसे जो परमात्मप्रभु है वह मैं हू। जो मैं हूं वह परमात्मप्रभु है।

चित् तत्त्वकी व्यापकता— लोग कहते हैं और जगह जगह सुनने में आता है कि घट-घटमें प्रभु विराज रहे हैं। घट-घटसे मतलब घड़ा मटकासे नहीं, किन्तु देह-देहमें प्रभु विराज रहे हैं। देह देहसे मतलब रूप, रस, गंध स्पर्श वाले नहीं किन्तु देह तो देवालय है जिसके सम्बन्धमें चर्चा की जा रही है उसका निवास स्थान इस समय यह देह है। इस देह देवालय के भीतर जो चेतन है, उस चेतनकी भी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु उस समग्र आत्मामें स्वभावदृष्टिसे शाश्वत जो चैतन्यतत्त्व है उसकी बात कही जा रही है। वह चैतन्यस्वरूप सर्व आत्मावोंमें एकस्वरूप है।

इन्द्रियसम्बन्धविषयक प्रश्नोत्तर— कलके दिन एक बाबा जी ने तीन प्रश्न किये थे अलग एकांतमें और बडे सक्षेप भाषामें थे तथा बडे उपयोगी थे और उनके हृदयकी लगनको बताने वाले थे। वह बोले कि महाराज पहिले तो हमें यह समझना है कि ये सभी इन्द्रियां जीवमें कैसे लगी हैं? जीव तो ज्ञानका पिण्ड है। पहिला प्रश्न था। इसके समाधानमें यह उत्तर दिया कि इन्द्रियां जीवमें नहीं लगी हैं। ये नाक, आंख, कान देहमें हैं, पुद्गलमें हैं, भौतिक हैं, किन्तु जीवका जब सम्बन्ध है तब इस प्रकारके इन्द्रियकी पैदायश इस देहमें बनी है। तो सम्बन्ध मात्र निमित्त है, पर इन्द्रिय जीवमें नहीं है। उनके अन्तरकी आवाज थी समाधान

पाया।

जीवकी व्यापकता पर प्रश्नोत्तर— समाधान पाकर बाबाजी दूसरा प्रश्न करते हैं कि लोग यह कहते हैं कि यह जीव सर्वव्यापक है और जब सर्वव्यापक है तो स्वर्ग, नरक, सुख, दुःख ये बातें फिर कैसे बनेंगी, वह तो जो एक है वह एकरूप परिणमेगा? उत्तर दिया कि वस्तुतः अनुभवकी दृष्टिसे जीव अनन्त हैं पर उन समस्त जीवोंका जो स्वरूप है वह स्वरूप सबमें एक है, सदृश है। सो प्राचीन कालमें जिस समय यह आवाज उठी उस समय ऋषीसंतोंने एक दृष्टिसे एक जीव और सर्वव्यापक समझा। कोई त्रुटिकी बात न थी। सभी जीवोंमें स्वरूप एक है, ऐसा नहीं है कि मुझमें स्वरूप और भांति हो और आपमें स्वरूप और भांति हो। स्वरूपदृष्टिसे एक है और ऐसा यह स्वरूप सबमें है। इस कारण यह जीव एक और सर्वव्यापक है, किन्तु इस दृष्टिसे निगाहमें न रखकर सर्वथा ही यों मान लीजिए कि जैसे एक मैं हूं, एक आप हैं, ऐसे ही कोई एक जीव है और वह यों व्यापक है, तब ऐसा प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह निर्णय स्याद्वाद द्वारा होता है। स्याद्वादकी ज्ञानभूमिका बहुत बड़ी देन है।

साधुकी अहिंसकता— तीसरा प्रश्न उन्होंने और किया था, उस समय जल्दी होने से उसका उत्तर जल्दीमें दे दिया था। तीसरा प्रश्न एक साथ कर दिया था इस कारणसे। प्रश्न था कि यदि इन पेड़ोंमें, फलोंमें, इन हरियोंमें जीव है तो फिर कोई अहिंसक बन ही नहीं सकता। साधु संतोंको भी जगलमें फूल पत्तियां तोड़नी पड़ती हैं, लोग फल खाते हैं, सब्जियां खाते हैं तो वे अहिंसक कैसे रहे? इस सम्बन्धमें यह उत्तर है कि साधु संतोंकी व्यवस्था भोजनकी इस प्रकार है कि कोई गृहस्थ अपना भोजन बना रहा है उसको बनाना ही था अपने घर पर और उस भोजनके समय साधुसंत बिजलीवत् निकले और जिसने भक्तिपूर्वक पूछ लिया वहां भोजन कर लिया। संकल्पमें भी यह बात नहीं आना चाहिए कि मैं इन फलोंको तोड़ूँ, पत्तियोंको तोड़ूँ, जीव तो वहां है ही। न हो जीव तो ये बढ़े कहां से? सारा जगत जानता है, इसलिए साधु उस सम्बन्धमें अहिंसक रहते हैं। यदि साधु यह जाने कि यह रसोई एक मनुष्यके परिमाणकी है और उसके उद्देश्यसे ही बनी है। दो रोटियां और कुछ बना लिया जितना कि एक आदमी खा सकता है तो वहां साधु भोजन न करेगा। वह जान लेगा कि सबके लिए बना हुआ है तो लेगा।

स्वभावदृष्टिसे ब्रह्मस्वरूपका दर्शन— तो प्रयोजन यह है कि

परमात्मतत्त्व घट-घटमें विराजमान् है, प्रत्येक जीवमें है, किन्तु उसके देखनेकी विधि स्वभावदृष्टिकी है। जैसे दूधके अन्दर घी मौजूद है, ऊपरसे घी नहीं दिखता है फिर भी उस दूधमें घी पड़ा हुआ है। जांचने वाले जन जान सकते हैं कि इस दूधमें एक सेरमें १॥ छटांक घी निकलेगा। इस दूध में सेरमें १ छटांक घी निकलेगा। दूधको देखकर जो ऐसा जान जाते हैं उनमें कोई कला तो होगी जो उन्हें घी दिख गया। घी आंखोंसे नहीं दिखा ज्ञानमें दिख गया। यों ही संसारके जीवोंमें वह परमात्मस्वरूप प्रकट नहीं है और न परमात्मस्वरूपका कोई संसारी अनुभवन भी कर सकता है फिर भी इन संसारी मानवोंमें कोई विरले ज्ञानीयोगी संत ऐसे भी होते हैं, कि इस संसृतिकी अवस्थामें भी उस कारणपरमात्मतत्त्वका अवलोकन कर लेते हैं।

अन्तर्ज्ञानीकी अन्तर्ध्वनि— जिसने अपने आपके कारणपरमात्मतत्त्वका अवलोकन किया उसकी यह अन्तर्ध्वनि है कि जो मैं हूं ऐसा वह परमात्मतत्त्व है। जो परमात्मतत्त्व है सो मैं हूं, इस कारण मेरे द्वारा मैं स्वयं उपास्य हुआ, मेरे द्वारा यह मैं ही पूजा गया, अन्यत्र और कुछ निर्णय नहीं है, अन्य स्थिति नहीं है। यह अध्यात्ममर्मके अन्तरकी ध्वनि है और यहां परीक्षणमें भी इसे लगायें तो मोटेरूपसे यह जानेंगे कि कोई भी जीव अपने आपको छोड़कर अन्य किसी जीव में न राग कर सकता है, न द्वेष कर सकता है, न मेल कर सकता है, न आदर कर सकता है और न पूजा कर सकता है। प्रत्येक जीव अपने-अपने उपादानके अनुसार अपना परिणमन करता है। उस परिणमनमें जो विषयभूत अन्य पदार्थ हैं उसका नाम लिया जाता है।

अभेदपरिणमनके व्यवहारमें भेदकथनपर एक दृष्टान्त— जैसे आप इस समय पेड़को जान रहे होंगे तो हमें यह बतावो कि आपका आत्मा जो इस देहके अन्दर समाया हुआ है वह अपने प्रदेशमें स्थित होकर क्या कर रहा है? पेड़ तो दूर है। उस पेड़ तक न आत्माका हमारा प्रदेश गया और न आत्मामें से कोई किरण निकलकर उस पेड़ तक पहुंची। यह तो मैं पूराका पूरा अपने प्रदेशमें हूं। मैंने क्या किया? अपने ज्ञानका कोई परिणमन किया। हम पूछें कि बतावो तो तुमने ज्ञानका क्या परिणमन किया? वे कहेंगे निश्चय दृष्टि रखकर कि मैंने अपने ज्ञानका एक जाननरूप परिणमन बनाया। अभी तो हमारी समझमें नहीं आया। तो सीधा व्यवहारकी बात बता दूं। हां हां तो लो सुनो मैंने पेड़को जाना। तो वस्तुतः उसने पेड़को नहीं जाना, किन्तु पेड़विषयक अपने आपमें जानन-

रूप परिणमन किया। अब उस जाननरूप परिणमन को बता देनेका उपाय उसके पास और कुछ न था, सो उस जाननमें जो विषय हुआ उस विषय का नाम लेकर उसे कहना पड़ा कि मैंने पेड़को जाना।

अभेदपरिणमनका व्यवहारमें भेदकथनपर द्वितीय दृष्टान्त— क्या आप अपने पुत्रसे अनुराग करते हैं ? अरे पुत्र तो बाहर है आप अपने देहमे समाये हुए हैं। आप जो कुछ कर सकेंगे वह देहके अन्दर ही तो कुछ कर सकेंगे। यह अमूर्त आत्मतत्त्व जो देहप्रमाण आज बना हुआ है वह क्या इस अपने प्रदेशसे बाहर कुछ भी अर्थपरिणमन कर सकता है ? नहीं कर सकता है। क्या किया आपने ? मोह स्नेह किया। अरे स्नेहके मायने हम तो कुछ नहीं समझे। नहीं समझे, तो व्यवहारभाषामें सीधे बता दें। पुत्रसे स्नेह किया। अरे कोई पुत्रसे स्नेह कभी कर ही नही सकता। जो कुछ करता है वह अपने आपमे कर रहा है। उस रागपरिणमनका विषयभूत वह पुत्र है। अतः पुत्रका नाम लेकर उस स्नेहपरिणमनको बताना पड़ा और कोई तरकीब न थी।

इस ही प्रकार जब हम कभी कार्यपरमात्माको भी पूजते हैं उस समय भी हम कार्यपरमात्मा तक प्रदेशसे नहीं पहुंच पाते हैं। कार्यपरमात्मा बहुत दूर क्षेत्रमे विराजमान् हैं किन्तु उस समयमे-क्या कर रहा हू ? अपने प्रदेशमें ही स्थिर रहता हुआ कोई भक्तिरूप परिणमन कर रहा हू, भज रहा हूं। किसको भज रहा हूं ? भज रहा हूं। उस भजनेका व्यक्तरूप व्यवहारकी भाषा बोले बिना दूसरेको बता नहीं सकते। तब स्पष्ट कहना पड़ता है कि मैं भगवान्की पूजा कर रहा हूं। अरे तुम भगवान्की पूजा कभी कर ही नहीं सकते। जो कुछ कर सकते हो सो अपने आपमें कर सकते हो। इस दृष्टिसे भी मैं अपने को ही पूजता हूं, पर प्रभुको नहीं पूजता हूं।

उपास्य निज कारणपरमात्मतत्त्व— भैया ! और फिर इतना ही नहीं, इसके और अन्तरमें चलें, उसे भी नहीं पूज रहे हो। यह अन्तर-ज्ञानीकी अन्तर्ध्वनिसे आवाज आ रही है कि जो कारणपरमात्मतत्त्व है वह ही तो मैं हूं। मै पूजक इस पूजासे जुदा नहीं हूं। इस कारण जब तक उसकी दृष्टि न थी तब तक मैं भक्त न था, अब दृष्टि हुई है तो मैं पूजक कहलाने लगा, अन्यथा पूजक नाम भी ठीक न था। मैं हू और परिणाम रहा हूं, पर पहिले पूजक न था और आज मिली है दृष्टि, इसलिए पूजक नाम पड़ गया है। है वह अभेदतत्त्व। मै अपने द्वारा अपनेकी ही उपासना करता हूं। मेरे चित्तमे एकमात्र यह निर्णय है।

बाह्यमें शरणकी अप्राप्ति— मैं जब लोकमें शरण ढूँढने चला तो जिन-जिन पदार्थोंको मैंने शरण समझा, उन उन पदार्थोंकी ओर से शरण की बात तो दूर जाने दो, टुक संतोष भी न पा सका। कैसे संतोष हो, इस आत्मतत्त्वका कुछ भी मर्म आत्मप्रदेश से बाहर है ही नहीं। किसी दूसरे पदार्थके वशमें ऐसा कुछ है ही नहीं कि मेरेमें कुछ परिणमन बन जाय। तो सब जगह ढूँढा पंचेन्द्रियके विषयभूत साधनोंको खोजा कितने ही स्पर्श किये, बड़ा कोमल गद्दा या ठंडे, गरम कमरेका निवास, और-और भी सुहावने स्पर्शोका प्राप्त करना, रसीले भोजन चखना, सुन्दर रूपोंको देखना, सुरीले रागोंका सुनना, अच्छी गंध सूँघना, कितने ही उद्यम कर डाले, अपनी नामवरी चाही, यशके लिये दुनियामे बड़े श्रम किये, कितने ही यत्न कर डाले, बहुतोंको अपना मन समर्पित किया, लेकिन न कहीं शरण मिली, न कहीं संतोष मिला।

अपने द्वारा अपनी उपास्यता— आखिर जब यथार्थ ज्ञान हुआ, जब विदित हुआ कि मेरे लिए यह मैं आत्मतत्त्व ही शरण हूं। उपासना बाहरमे किसकी करने जायें। यह मैं आत्मा स्वयं मेरे द्वारा उपास्य हूं। मेरा जो सहज स्वभाव है अपने आपके सत्त्वके कारण जो सहज भाव है, चैतन्यस्वभाव उस स्वभावकी उपासना ही मेरे हितमें परम उपासना है और उसही स्वभावको हम अपनेमे पाते हैं और उस ही स्वभावको प्रभु परमात्मामें पाते हैं। तो जो परमात्मा है सो मैं हूं। जो मैं हूं सो वह परम आत्मा है, इस कारण मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हूं। भगवान्‌की उपासना भी मेरे ठिकाने से हुआ करती है।

प्रभुके पतेका ठिकाना— जैसे पत्रोंके पतेमें केयर आफ लिखा जाता है ठिकानेमें, तो प्रभुके नामका यदि पत्र आप लिखें तो उसका ठिकाना क्या लिखा जायेगा? आप ऊर्ध्वलोक लिखें, बैकुण्ठ लिखें, सिद्धशिला लिखें तो वह बैरङ्ग पत्र डोलता रहेगा। ठिकाने न पहुंचेगा। उसका ठिकाना यदि यह ही निज आत्मतत्त्व लिखा जाय, माना जाय तो प्रभुसदेश प्रवृत्त हो सकता है। यह मैं स्वयं हूं ठिकाना, प्रभुका संदेश, प्रभुका समाचार जाननेके लिए यह मै खुद हूं केअर आफ। तो ऐसे प्रभुवरका ठिकाना रूप यह मैं कारणसमयसार मेरे द्वारा उपास्य है और कोई उपास्य नहीं है, ऐसा मेरेमें निर्णय हुआ है। इस निर्णयके बाद अब यह ज्ञानी संत अपने को किस प्रकारसे ढालनेका यत्न कर रहा है? इसका वर्णन आयेगा

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥३२॥

परमतत्त्वकी उपासनाके अर्थ प्रथम यत्न— यह मैं अपने आपको विषयोंसे हटाकर मेरे ही द्वारा मुझमें स्थित ज्ञानात्मक परम आनन्दसे रचे गये आत्माको प्राप्त होता हूं। किसी निर्णय करनेका फल तो यह है कि उस निर्णयमें जो निश्चय हुआ है उस कार्यको कर लिया जाय। निर्णय यह हुआ है कि मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हूं। यह मैं किस तरहसे उपासने में आ सकता हूं? इसका विधान इस श्लोकमें कहा जा रहा है। मैं अपने को विषयोंसे पहिले हटाऊँ तब मै अपने आपकी प्राप्ति कर सकूँगा और उसही में यथार्थ उपासना हो सकेगी।

संसारका कठिन झूला— भैया! यह सारा लोक एक विषयोंसे ही ठगा हुआ भटक रहा है और इसको क्लेश क्या है? विषयोंमें फँसनेका कारण है राग द्वेष। उस रागकी कीलीपर लटका हुआ यह प्राणी चारों ओर घूम रहा है और ठगाया जा रहा है, दुःखी हो रहा है, फिर भी उसमें ही सुख मान रहा है। जैसे बडे हिंडोलनामें कोई बालक झूलनेका शौक करता है, पैसा देकर पलकियामें बैठ गया। अब जब वह पलकिया ऊपर जाती है, नीचे आती है तो वह बालक डरके मारे चिल्लाता भी है। जब तक पलकिया चला करती है तब तक यह डरता रहता है, दुःखी होता रहता है, और पलकिया बंद होनेके बाद उतर आया तो थोड़ी देर बाद फिर बैठ जाता है। यह हिंडोला तो क्या है भ्रमण। इस जीव का असली हिंडोला देखो, यह है संसारभ्रमण। कहां का मरा कहां भटकेगा? कहां पैदा होगा? कौन फिर इसका बचाने वाला होगा?

प्रीतिरीतिमें रीताका रीता— यहां कोई किसीका तत्त्व है क्या, शरण है क्या? कुछ भी तो इस जीवका शरण नहीं है लेकिन भटक रहा है। इन सब भटकनोंका कारण है विषयोका प्रेम। इन विषयोंकी प्रीतिसे किसी ने कुछ शांति पायी है क्या? किसी दूसरेकी क्या सोचते हो खुद को ही देखो—क्या कोई शांति मिली है? कैसा भी विषय हो, खानेकी बात देखो तो आध सेर रोजका ही हिसाब लगालो—कभी ३ पाव भी खाया, कभी पाव भर खाया, इतना तो सब कुछ मिलाकर खा ही लिया जाता है। तो आध सेर रोज खाने पर महीना भरमें खाया १५ सेर और साल भरमें खाया १८० सेर, याने साढ़े चार मन, और जिसकी उमर ६० वर्षकी हो गयी उसने २७० मन खाया। अरे २७० मन कितना होता है, एक रेलका डिब्बाभर जायेगा, उतना खा चुके हैं और अब भी वैसेके वैसे रीते हैं। अभी भी आशा लगाये हुए हैं कि लड्डू मिल जायें, तो कोई शांति मिली हो तो बतलावो। एक रसनाकी ही बात क्या स्पर्शनकी भी

बातदेखो —कामवासना की भी बात देखो। इतने समयके भोगोंके बाद भी क्या हाथ है? रीताका रीता है। खूब खेल अथवा सुन्दर रूप भी देख लिया तो है क्या? केवल अपनी आँखोंका थकाना है। तत्त्व क्या निकलता है? किसी भी इन्द्रियके विषयमें पड़कर इस जीवने रंच भी संतोष नहीं पाया, फिर भी मोहवश यह विषयोंको ही ललचा रहा है।

सिद्धिका साधन निर्मोहिताकी साधना— मेरा स्वरूप तो सिद्धके समान है परन्तु हुआ क्या 'आशवश खोया ज्ञान' और भिखारी बना, निपट अज्ञान रहा। जो बात जिस पद्धतिसे बनती है उसको किए बिना उसकी सिद्धि नहीं है। मोहको बिलकुल हटाने पर ही यह आत्मा अपने आप उस परमात्मतत्त्वके दर्शन कर सकता है, मोह राग करके दर्शन नहीं कर सकता है। किसी समय तो ऐसा अनुभव आना चाहिए कि मैं अकिञ्चन् हूं। इस लोकमे मेरा कहीं कुछ नहीं है, आखिर मामला यह है, जैसे पैदा हुए हैं अकेले, ऐसे ही अकेले जायेंगे, कुछ साथ न रहेगा, लेकिन व्यामोहका कैसा कठिन परिणाम है कि इसे सत्यपथ सूझता ही नहीं है। सब छोड़ जायेंगे पर अपने जीवनमे उसकी ममता नहीं छोड़ सकते। कितना कठिन काम है और जिनके लिए ममता कर रहे हैं वे अपने आपके काम कभी आनेके नहीं हैं, फिर भी इतना चित्तमें नहीं आता कि मै कुछ जीवनके थोड़े वर्ष ममता रहित होकर आत्मसाधनामें व्यतीत करूँ ले।

स्वार्थका साथ— एक सेठके चार लड़के थे। ५ लाखका धन था। सब लड़कोंको बाट दिया और अपने एक लाख अपने कमरेमे भींतोंमें चुन दिया, लड़कोंको सब मालूम था। जब सेठके मरणका समय आया तो बोल थम गया। सेठजी बोल न सके। पच लोग कुछ आये और बोले कि अब तुम्हें जो दान करना हो सो करलो। तो उसकी मंशा हुई कि मेरे पास जो हिस्सेका एक लाखका धन पड़ा हुआ है वह सबका सब पंचोको सौंपदे और जो काम अच्छा हो उसमें पच लगावे। सो बोल तो सके नहीं, इशारेसे कहता है भींतोंकी तरफ हाथ करके, पंचोकी तरफ हाथ ढेलता हुआ अपने भाव बताता है कि जो कुछ मेरे पास है वह सब मैंने दान किया, लेकिन पचोंमें से कोई भी उसका अर्थ न समझ सका। तो लड़कों को बुलाते हैं। अरे लड़कों बतलावो तो जरा, ये तुम्हारे पिताजी क्या कह रहे हैं? तो लड़के कहते हैं कि पिता जी यह फर्मा रहे हैं कि मेरे पास जो कुछ धन था वह सब भींतोंके बनानेमें खर्च कर दिया। अब मेरे पास कुछ नहीं है, यह फर्मा रहे हैं। सेठ सुन रहा है, हाथ मैं चाहता हूं कि मेरी

सम्पत्ति भले काममें लगे, मगर ये वेदे कुछ उल्टा ही कह रहे हैं।

विषयनिवृत्तिका प्रधान कर्तव्य— क्या है भैया! जब तन भी साथ न जायेगा तो अन्य चीजकी आशा ही क्या करते हो? परिणामोंकी निर्मलता बन जायेगी तो अगले भवमें भी सुखका समागम मिलेगा अन्यथा संसारका भटकना जैसा अभी तक चला आया है ऐसा ही चलता रहेगा। मैं अपने आपको पानेके लिए, अपनी उपासना करनेके लिए समस्त विषयों से अपनेको हटाऊँ, पहिला काम तो यह है। सोच लो जो लाभकी बात है सो करो। हानिकी जो बात है उसे मत करो। मैं अपनेको विषयोंसे हटाकर अपने आपमें स्थित ज्ञानात्मक अपने आपको प्राप्त होऊं। जितने महापुरुष हुए हैं बड़े राजा महाराजा, जिन्होंने कल्याणका मार्ग अपनाया है, जो मुक्त हुए हैं, निर्दोष आनन्दमय हुए हैं उन्होने यह किया था। हम पुराण पढते हैं, शास्त्र बांचते हैं उनसे यदि हमने अपने आपको सन्मार्ग में ले चलने की शिक्षा ग्रहण न की तो फिर बतावो कि वह सब पढ़ना किस मायनेको रखता है?

यथार्थ भक्ति— प्रभुकी असलमे भक्ति यह है कि जो प्रभुका उपदेश है उस पर हम यथाशक्ति चलें, अन्यथा हम भक्त नहीं हैं। कोई पुत्र अपने बापकी पूजा भी करे, हाथ भी जोडे, सिर भी नवाये, पर उसकी बात एक न माने या उसकी कोई सुविधा न बनाए तो क्या वह पिताका सेवक कहा जा सकता है, ऐसे ही हम प्रभुमूर्तिके आगे सब कुछ न्योछावर करें, हाथ जोड़ें, सिर रगड़ें और बात उनकी हम एक भी न मानें तो हम प्रभुके भक्त कैसे? एक प्रसिद्ध बहाना है कि पंचोका कहना सिर माथे, किन्तु पतनाला तो यहींसे निकलेगा। प्रभुकी तो पूजा वगैरह सब कुछ करते हैं, करेंगे, बड़े उत्सव मनावेंगे, पर मोह रागद्वेष जैसा है उतना वैसा ही रहेगा बल्कि और बढ़नेको चाहेगा।

आत्माका परसे नातेका अभाव— भैया! यह अनित्य संसार है, जिसमें किसी भी वस्तुका विश्वास नहीं है। जो आपको मिला है वह अट-पट मिल गया है। कोई कानून कायदेसे नहीं मिला है कि आपके आत्मा में और परपदार्थोंमें कुछ नाम खुदा हो कि यह तो इनको मिलना ही चाहिए, न मिलते ये दूसरेके पास होते तो क्या? ऐसा हो न सकता था। तो अब जो यों ही अटपट मिला है उसका सदुपयोग कर लो, उदारता अपनालो तो इसका कुछ लाभ भी मिलेगा, अन्यथा जैसे मुफ्त आया है वैसे ही मुफ्त जायेगा और उस दलालीमें केवल पाप ही हाथ रह जायेगा।

व्यर्थका प्रसंग— एक चोर कहींसे घोड़ा चुरा लाया, बाजारमे बेचनेको

खड़ा कर दिया। कुछ ग्राहक आये, पूछा घोड़ा कितनेमें दोगे? सो था तो वह १००) रु० का और बताया ५००) रु० का। किसी ने न लिया। कोई बूढ़ा अभ्यस्त चोर था, उसने पूछा घोड़ा कितनेमें दोगे? वह तेज आवाजमें बोला ५००) रु० का। वह झट समझ गया कि यह घोड़ा चोरी का है। बोला इसमें विशेषता क्या है? कला क्या है? तो वह बोला कि इसकी चाल सुन्दर है। अच्छा तो हम जरा देखें। देखो। अच्छा यह मिट्टीका हुक्का पकड़ो। पकड़ लिया। वह चला घोड़े पर बैठकर घोडे की चाल देखने। चाल देखना तो बहाना ही था, वह उस घोडे को उड़ा ले गया। अब पुराने ग्राहक फिरसे आए, पूछा कि घोड़ा बिक गया क्या? हां बिक गया। कितनेका बिका? जितनेमें लाये थे उतनेमें बिक गया और मुनाफेमें क्या मिला? मुनाफेमें मिला यह मिट्टीका हुक्का। यों ही जिसे जो कुछ समागम मिले हैं वे आपके आत्मासे बंधे हुए नहीं हैं। आप स्वतंत्र हैं, ये सर्व पर-समागम आपसे भिन्न हैं। ये मिल गए हैं और यों ही बिछुड़ जायगे, पर मुनाफा क्या मिलेगा? पापका हुक्का।

वास्तविक त्यागमें प्रभुका आकर्षण—जब इस आनन्दनिधान अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि नहीं होती है तो क्या कहा जाय इस बेचारे गरीबको? भले ही लाखों करोड़ोंका धन हो किन्तु यह तो असहाय है, दीन है। बाह्यवस्तुओंकी ओर अपना आकर्षण बनाकर दुःखी हो रहे हैं। इनको दुःख मिटानेका जो उपाय है उसे यहां कहा? पहिला कदम है मैं अपने को विषयोंसे हटाऊँ। इन्दौरमें एक कल्याणदासकी सेठानी थी। उपवास वह बहुत करे। वहां आहार हुआ। हमने कहा, मां जी वैसे ही तुम दुबली पतली हो, क्यों इतना अधिक उपवास करके शरीर सुखा रही हो? रोज खाया करो और धर्मसाधनामें अधिक रहा करो। तो वह बोलती हैं कि हमारे उपवास करनेके दो कारण हैं। पहिला तो यह कि हम बचपनसे विधवा हैं तो हमने उपवास करके अपने भावों को निर्मल रक्खा। दूसरे अब हम वृद्ध हो गयी हैं फिर भी हम उपवास या त्याग करती हैं, उसमें हमारी तो दृष्टि यह है कि चीज मौजूद रहते हुए त्याग किया जाय तो उसका नाम त्याग है, और नहीं है कुछ और त्यागका कोई नाम बोले तो वह त्याग नहीं है। जैसे कोई भोजनको बैठे और कहे कि देखो जी जो चीज हमारी थालीमें न आवेगी उसका हमारा त्याग है। हम तो कहते हैं यह भी अच्छा है। जो चीज थालीमें न आए और अन्तरमें उस की चाह न रहे तो हम उसको भी त्याग मानते हैं। पर अन्तरमें तो चाह फिर भी बनी है कि अमुक चीज थालीमें नहीं दी जा रही है उसका क्या

त्याग कहा जाय।

भावनामें ग्रहण और त्याग— भैया! वास्तवमें त्याग, वास्तवमें विषयोंसे हटना तब ही सम्भव है जब ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्वका निर्णय हो, विश्वास हो। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, मुझमें ज्ञान और आनन्द भाव है, इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंका न तो ग्रहण है और न उसका त्याग हो सकता है अर्थात् जब ग्रहण नहीं है तो त्याग किसका किया जाय? अपने ज्ञानभावका सही होनेका ही नाम वास्तवमें त्याग है। कोई परचीज इस मुझ आत्मामें कहां पड़ी है? कोई रसीली चीजोंका रस इस आत्मामें तो छुवा भी नहीं जा सकता है, फिर मैंने रसका ग्रहण किया और रसका त्याग किया, उस रसविषयक ज्ञानमें ऐसा विकल्प बना लेना कि मैंने मीठा भोगा, अमुक चीजका आनन्द लिया, ऐसे विकल्पके करनेका नाम ही तो ग्रहण है। तथा मुझ आत्मतत्त्वमें तो किसी परवस्तुका प्रवेश ही नहीं है। यह मैं स्वतन्त्र ज्ञान ज्योतिमात्र हूं, इस प्रकारका अनुभव करना इस ही का नाम सबका त्याग है।

विषयनिवृत्ति और ज्ञानवृत्ति— देखो किस किस वस्तुका नाम ले लेकर आप त्याग कर सकते हैं बताओ? कितनी चीजोंका त्याग करना लाभदायक है? आप कहेंगे कि सभी पदार्थों त्याग करना आत्मविकास का हेतु है। तो पदार्थ तो अनन्त हैं, किसीका नाम लेकर त्याग कर ही नहीं सकते हैं, और एक ज्ञानमात्र अपने आपको स्वीकार कर लिया तो लो इसमें सबका त्याग एक साथ हो गया। तो विषयोंका हटना और ज्ञानमात्र अपने आपको पाना, यद्यपि ये दोनों बातें एक हैं, फिर भी व्यवहारमें कुछ विषयोंसे हटनेके उपायको ज्ञानमें लिया जाता है। इस ज्ञानमें लगनेके उपायसे विषयोंसे हटा जाता है। तो समय समय पर जो चाहे पहिले पीछे इन दोनों कार्योंको करे। मैं सर्वविषयोंसे अपने आपको हटाकर अपने आपको प्राप्त होता हूं। यह मैं ज्ञानमात्र ही हूं और उत्कृष्ट ज्ञानभावों से मैं निर्मित हूं। मैं अपनेको अपनेमें खोजने जाऊं तो वहां न मैं किसी रंगमें लिपटा हूं, न वहां रस, गंध आदिकमें मैं मिल गया हूं। मैं तो केवल जानन और आनन्द इन दो रूपोंमें मिलूंगा। ज्ञान और आनन्दके अतिरिक्त मेरे अन्दर कुछ भी स्वभाव नहीं है। मैं सबसे हटकर केवल ज्ञानरूप और आनन्दमय अपने आपको प्राप्त होता हूं।

निजपदनिवास— लोग दुःसगसे थककर उनसे हटकर अपने आपके घरमें बैठे रहनेका संकल्प किया करते हैं। अब मैं इस प्रसंगमें न रहूंगा। उससे अपनेको हटाकर अपने ही घर बैठूंगा। यों ज्ञानी सन्तने विषयों

के संगको दुःसंग समझा है और उस दुःसंगमें अनेक खोटे परिणाम भोगे। तो अब यहां दृढ़ संकल्प कर रहा है कि मैं अपनेको विषयोंसे हटाकर अब अपने ही घरमें विराजूंगा। वह विषयोंका लगना भी अपने ही प्रदेशमें था; किन्तु बहिर्मुख पद्धतिसे था और अपने आपके घरमें बैठना अपने आपमें लगना यह भी अपने प्रदेशमें है किन्तु यह अन्तर्मुख होनेकी पद्धतिसे है। सो अब मैं बहिर्मुखताको त्यागकर अन्तर्मुख होकर ज्ञानानन्दमय अपने आपके स्वरूपको प्राप्त होता हू।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

योगिगम्य अन्तस्तत्त्व— इससे पूर्व श्लोकोंमें इस बातका विस्तृत वर्णन किया गया है कि यह ज्ञानमय आनन्दघन निज आत्मतत्त्व देहसे सर्वथा पृथगभूत है। सर्ववैभवोंसे सर्वोत्कृष्ट वैभव आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान बिना यह जीव अनात्मतत्त्वमें अपना सम्बन्ध मानकर हैरान होता फिर रहा है। परवस्तु तो पर ही है, न उनके परिणमनसे मेरा कुछ बनता बिगड़ता है और न मेरे परिणमनसे उनका कुछ बनता बिगड़ता है, लेकिन मोहबुद्धिमें परको स्वामित्व अपनेमें बनाकर व्यर्थ ही परेशानी उठाई जाती है। जिस महाभागको आत्मज्ञान हो जाय, देहसे भी पृथक् निज स्वरूपमात्र आत्मतत्त्वका अनुभवरूप दर्शन हो जाय, उसके वैभवका वर्णन बड़े-बड़े योगीश्वर भी नहीं कर सकते। ऐसे इस आत्मतत्त्वका पहिले कुछ वर्णन हुआ है।

विविक्त आत्मतत्त्वके परिज्ञान बिना निर्वाणकी अप्राप्ति— अब इस श्लोकमें यह कह रहे हैं कि जो पुरुष देहसे भिन्न अविनाशी आत्माको नहीं जानता है वह बड़ा घोर तप करके भी निर्वाणको प्राप्त नहीं हो सकता है। निर्वाण-मायने क्या है? क्लेशोंका बुझ जाना। क्लेश कैसे बुझते हैं? इन क्लेशोंका कारण है मोह और कषाय, सो मोह और कषायकी तेल बाती सूख जाय तो यह क्लेशोंकी लौ बुझ सकती है। इस जीवमें बसे हुए ६ दुश्मन हैं—मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ। जीव अपने इन परिणामोंके कारण ही दुःखी रहता है। कोईसा भी क्लेश हो, उन सब क्लेशोंमें यह निर्णय करलो कि इसमें मैंने यह गलती की, इसलिए दुःख हुआ।

सर्वक्लेशोंका कारण स्वयंका अपराध— भैया! चेतन अथवा अचेतन किसी भी परपदार्थकी त्रुटिसे हमें क्लेश नहीं हो सकता है, हमारी ही त्रुटिसे हमें क्लेश होता है। यह पूर्ण निश्चित निर्णय है। अपने

जीवनमें जो इस नीतिको अपनाता है कि मेरेको जितने भी जब भी क्लेश होते हैं तो मेरे अपराधके कारण होते हैं, दूसरेका कोई भी अपराध मेरे दुःखका कारण नहीं हो सकता है। रख लीजिए उदाहरणके लिए १०, २० घटनाएं। प्रत्येक घटनामें यह निर्णय पायेंगे कि जितने भी क्लेश होते हैं वे सब मेरे अपराधसे मुझे होते हैं। कोई भी आप घटना बतायें, उदाहरण पेश करें, इस नियमका उल्लंघन नहीं होगा।

मूल अपराध ममता— मान लो कोई ऐसा भी हो कि अपन बहुत सीधे साधे हैं, घरकी कमायी है, विशाल धन है, खुद मौज उड़ाते हैं, किसीको सताते नहीं हैं फिर भी अनेक कुटुम्बियोंमें, रिश्तेदारोंमें, पड़ौसियोंमें, राज्यकर्मचारियोंमें बहुतसे ऐसे कारण निकल आते हैं जिनसे वे जो बहुत सताते हैं, वे सताते नहीं हैं, वे चाहते हैं धन, चाहते हैं कुछ अपना लाभ। सो वे कषायोंके अनुसार अपना परिणमन करते हैं और यहां धनीको जो क्लेश हो रहा है उसमें अपराध है धनमें ममताका। दुःखी हो रहा है व्यर्थ अपने विकारसे। कोई यह कहे, तो क्या करें? क्यों बिल्कुल धन छोड़कर फकीर बन जायें। हम यह नहीं कहते हैं, तत्त्वकी बात कह रहे हैं कि दूसरेके अपराधसे अपनेको क्लेश नहीं होता है। क्लेश होनेमें अपराध है स्वयंका। यहांके जो परतत्त्व है, परपदार्थ हैं, उनमें ममता परिणाम है इसलिए क्लेश हो रहा है।

सकलप्रवृत्तियोंकी क्लेशरूपता— निष्पक्षदृष्टिसे देखो भैया संसारमें क्लेश तो सदा हैं। खूब आय भी हो रही हो, धन भी है, कोई नुकसान भी नहीं पहुंचता, हंसी खेलमें दिन भी कट रहे हैं, वे भी सब क्लेश ही क्लेश हैं। हर्ष भी आकुलता बिना नहीं होता, विशाद भी आकुलता बिना नहीं होता। खूब परख लो, एक जैसे भोजनका सुख है, बढ़िया-बढ़िया भोजन बना, घरका ही भोजन है, बड़े आनन्दसे खा रहे हैं पर यह तो बतावो कि यह खानेका जो यत्न है यह शांतिके कारण हो रहा है या आकुलताके कारण हो रहा है? इसका ही निर्णय दो। शांति होती तो किसी भी विषयमें रंच भी यत्न न होता। जितने भी विषयोंके व्यापार होते हैं वे सब आकुलताके कारण होते हैं।

हर्षमें आकुलता— पूर्व समयमें कोई एक अंग्रेज था। उसकी आदत थी लाटरी डालनेकी। १० रुपये लाटरी पर लगा दिये तो हजार, दस हजार, लाख, दो लाख उसमें नम्बर आने पर मिलते हैं। सो उसने लाटरीके पीछे बड़ा पैसा खो दिया। एक बार सोचा कि हमारा जो चपरासी है उसके नाम १० रुपये डाल दें, सो चपरासीके नाम पर १० रुपयेका टिकट

डाल दिया। भाग्यकी बात कि २ लाख रुपयेकी लाटरी उसके नाम पर निकली। अब वह अफसर सोचता है कि यह बेचारा गरीब जब यह सुनेगा कि मुझे दो लाख रुपये मिले हैं तो हर्षके मारे उसका हार्ट फेल हो जायेगा। हर्षमें तो इतनी आकुलता होती कि प्राणोंका भी क्षय हो जाता है। तब क्या किया ? कोई सोचते होंगे कि हम न हुए उसकी जगह पर (हँसी) वह ईमानदार था। उसने पहिले चपरासीको बेंत लेकर खूब पीटा। उसके मध्यमें ही यह सुनाया कि तुझे दो लाख रुपये मिले हैं। जान उसकी बच गयी। अगर बिना पिटे सुन लेता कि दो लाख मिले हैं तो हर्षके मारे कहो प्राण छोड़ देता। वह चपरासी कहता है कि हजूर हम दो लाख कहां धरेंगे, हम तो कुछ व्यवस्था भी नहीं करना जानते, सो जो करना हो आप करो। सो उसके नाम पर कोई कंपनी खोल दी और स्वयं उसमें काम करने लगा। अब वहीं पर वह चपरासी मालिक कहलाता।

यत्नका स्रोत आकुलता— भैया ! कोई निमित्त भी हो जाय किसी के दुःखका तो ऐसी भी घटनावोंके अन्दर भी यही निर्णय मिलेगा कि जो दुःखी होता है वह अपने अपराधसे दुःखी होता है। हर्षमें आकुलता, विशादमें आकुलता, सर्वत्र आकुलता है। आकुलताके बिना यत्न नहीं होता। बुखार जिसे न चढ़ा हो वह चार छः रजाई क्यों ओढ़ेगा ? जिसे फोड़ा, घाव न हो तो वह क्यों मलहम पट्टी करेगा ? जितने ये चिकित्सा रूप व्यापार हैं वे किसी न किसी आकुलताके कारण होते हैं और उन सब आकुलतावोंका पोषक है देहमें 'यह मैं हू' ऐसी बुद्धि करना।

आकिञ्चन्यधर्मकी उपासन— जो पुरुष देहसे भिन्न अपने आपके स्वरूपको नहीं जानते है वे उत्कृष्ट तप करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होते। कितने भी समागम हों, अपनी रक्षा करना, अपना अगला भविष्य भी सुधारना हो और वर्तमानमें भी शांति चाहते हो तो ऐसी श्रद्धा और ऐसा ध्यान रक्खो कि मै अकिञ्चन हूं, मैं अपने स्वरूप मात्र हूं, मेरा जगत्में कहीं कुछ नहीं है।

बाहरी धर्मशाला— एक संन्यासी जा रहा था। रास्तेमे एक सेठकी हवेली मिली। हवेली पर पहरेदार खड़ा था। संन्यासी पूछता है कि यह धर्मशाला किसकी है ? पहरेदार बोलता है कि आगे जाइये, यह धर्मशाला नहीं है। अजी हमको आगे से मतलब नहीं, हम तो यह जानना चाहते हैं कि यह धर्मशाला किसकी है ? फिर पहरेदार बोला—साहब यह धर्मशाला नहीं है, आपको ठहरना हो तो ठहर जावो। यह तो सेठ जी की हवेली है। इतनेमें सेठजी ने भी सुन लिया। सेठने संन्यासीको बुलाया और

कहा, महाराज आप ठहर जाइये। आप ही का तो यह सब है। संन्यासी बोला "हमें ठहरना नहीं है, हमें तो यह बताओ कि धर्मशाला किसकी है?" फिर सेठ बोला, "महाराज धर्मशाला नहीं है, यह तो हमारा घर है।" साधु बोला, "इसे किसने बनाया था?" सेठ बोला, "हमारे बाबा ने।" वे बनवाकर कितने दिन रहे थे? महाराज वे तो पूरा बनवा भी न पाये थे बीचमें गुजर गये। फिर किसने बनवाया? फिर हमारे पिताने बनवाया। वे कितने दिन रहे थे? वे कोई ५ वर्ष तक जीवित रहे होंगे फिर गुजर गये। और अब तुम कितने दिन रहोगे? अब उसे सब ज्ञान जगा कि महाराज शिक्षाके लिए ही सब पूछ रहे थे। हाथ जोड़कर सेठ बोला महाराज कुछ पता नहीं है। संन्यासी बोला "देखो धर्मशालाके नाम पर जो मकान बना है उसमें तो इतनी गुञ्जाइश फिर भी है कि मुसाफिरको १०-१५ दिन ज्यादा ठहरना हो तो सेक्रेटरीको दरख्वास्त देकर बढ़वाये जा सकते हैं किन्तु यह धर्मशाला इतनी कड़ी है कि जिस दिन जीवन समाप्त हो जायगा तो कोई कितनी ही मिन्नतें करे, स्त्री, परिवार, पुत्र तो एक सेकेण्ड भी नहीं ठहर सकता है।

किस पर गर्व ?— भैया ! यहां गर्व करने लायक है क्या ? न यह शरीर गर्वकी वस्तु है। अपवित्र ही सर्वपदार्थोंसे रचा हुआ है और फिर विनाशीक है, दुःखका कारण है, अज्ञानका पोषक है। मकान, घर, वैभव, अचानक ही किसी दिन मरण हो गया तो सब यहींके यहीं पड़े रह जायेंगे। कौन सी चीज गर्व करने लायक है? परमार्थसे विचारो। संसार में यश फैल जाना, लोग जानें कि यह बड़ा चतुर है, महापुरुष है, कलावान् है— ऐसा कुछ यश फैल जाना यह कुछ गर्वकी वस्तु है ? अरे ! यश क्या है ? संसारका स्वप्न है और यशको गाते भी कौन हैं ? स्वार्थीजन। जिनका विषय सधता हो। संसारमें गर्व करने लायक पदार्थ कुछ भी नहीं है।

स्वच्छताकी प्रथम आवश्यकता— अपनेको अकिञ्चन समझो। अकिञ्चनोऽहं मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं तो यह परिपूर्ण आनन्दघन ज्ञानस्वरूप अछेद्य, अभेद्य आत्मतत्त्व हूं— ऐसा अपनेको अकिञ्चन् अनुभवना यह परम अमृत है। इस भावनासे ही अन्तरमें ऐसा घूंट मिलेगा और प्रायः गलेसे भी सुख भराता हुआ घूंट पीनेको मिलेगा जो संतोषपूर्ण होता है। बड़ा तप और क्रियाकाण्ड करनेसे पहिले अपने अन्तरकी स्वच्छता कर लेना अति आवश्यक है। कोई पुरुष गन्दी भींत पर चित्राम लिखने लगे और वहां भी बड़े ऊंचे रंगसे, ढंगसे चित्राम बनाने लगे तो

वह विवेकी नहीं है। पहिले उस भूमिकाको इतनी योग्य तो बना लेना चाहिए कि वह चित्राम लिखा जाने लायक हो जाय। ऐसा ही मुक्ति मार्ग का कोई यत्न होना है। करना है तो उससे पहिले हमें अपने आपको स्वच्छ बनाना चाहिए। और स्वच्छ बनानेका यत्न यह है कि ऐसा अनुभव करे कि मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दघन आत्मतत्त्व हूं, व्यवहार की बात व्यवहारमें है, परमार्थकी बात परमार्थमें है। और ज्ञानी संत कभी व्यवहार भी करता है और कभी परमार्थ दृष्टि भी करता है। दोनों उसकी स्थितियां चल रही हैं, किन्तु परमार्थ साधनाके समयमें व्यवहारको स्थान नहीं दिया है।

परमार्थसाधनाके समय व्यवहारको स्थानका अभाव— एक नगर का राजा किसी शत्रु पर चढ़ाई करने चला गया रानीको राज्य शासन देकर। इतने में किसी दूसरे शत्रुने रानीके राज्य पर आक्रमण कर दिया। तो रानीने सेनापतिको हुक्म दिया कि इस सेनाका मुकाबला करो। सेनापति जैन था, पर कर्तव्य तो निभाना ही था। सेना सजाकर चल दिया। रास्तेमें जब शाम हो गयी तो हाथी पर चढ़े ही चढ़े अपना भक्ति, भजन, पूजन, ध्यान करने लगा। किसी पेड़ पत्तीको मुझसे कष्ट हुआ हो तो क्षमा करना, किसी कीड़े, मकौड़े, मछली, ततैयेको मेरे द्वारा कष्ट हुआ हो तो क्षमा करना। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय वगैरह सबसे प्रार्थना करने लगा, प्रतिक्रमण करने लगा। कुछ चुगलखोरोंने रानीसे चुगली की कि आपने ऐसा सेनापति भेजा जो कि कीडे मकौड़ोंसे भी माफी मांगता है, वह क्या विजय करेगा? एक सप्ताहके अन्दर ही शत्रुको परास्त करके सेनापति आ गया। रानी पूछती हैं कि हमने तो यह सुना था कि तुम कीड़े मकोड़ो से भी माफी मांगते हो, तुमने कैसे विजय प्राप्त की? तो सेनापति उत्तर देता है कि "हम आपके राज्यके सेवक २३ घंटेके हैं"। सोते समयमे भी काम पड़े तो ड्यूटी बजायेंगे, खाते हुएमे भी काम पड़े तो खाना छोड़कर कर्तव्य निभायेंगे, परन्तु एक घंटा समय हम अपनी सेवाके लिए निकालते हैं। वह है ध्यान और सामायिकका समय। वहां हम अपनी दया रखते हैं। हमारी आत्माका हित इसीमें है। सो वह मेरी आत्मकरुणाका समय था, और जब युद्धका समय हुआ तो उसमे सारी शक्ति लगाकर युद्ध किया। तो जैसे आत्मकरुणाके समयमें अन्य चिन्ताए न रखनी, इस ही प्रकार परमार्थ दर्शनकी विधिमें व्यवहारको स्थान नहीं देना चाहिये।

अप्रकृत चेष्टा— मान लो चर्चा तो चल रही है कि देहसे न्यारा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप ज्ञानज्योतिर्मय परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप हूं। सोच

तो यों रहा है या सुन रहा है और बीचमें बोल दे हमारा लड़का। अरे! रंगमें भंग क्यों करते हो? परमार्थ आत्मतत्त्वमें लगने जा रहे हो तो कुछ अपने आप पर दया करो। तेरा तो कहीं कुछ है ही नहीं। किस वस्तु पर अधिकार है? कोई दावा करके कह दे कि ईंट पत्थर पर, धन पर, मित्र पर, स्त्री पर, किसी पर मेरा अधिकार है। कोई बताये? जब तक मेल है, संयोग है, अनुकूलता है, उदयका निमित्तनैमित्तिक भाव है, रहा आये समागम, किन्तु समागमके कालमें भी अधिकार आपका किसी भी पदार्थ पर नहीं है। जो जन अपने आपको विविक्त शुद्ध चितस्वरूप नहीं समझते हैं और मैं साधु हूं, त्यागी हूं, संन्यासी हूं, मुझे ऐसा तय करना चाहिए, मुझे ऐसा त्याग करना चाहिए, ऐसे विकल्पोंमें पड़ा है वह आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ है। कितने भी वह क्लेश करले पर उन क्लेशोंका लाभ उसे निर्वाण मार्गके रूपमें नहीं हो सकता।

वृत्तिकी लक्ष्यानुसारिता— कोई एक चौबीस घंटेकी समाधि लगाने वाला योगी राजाके यहां पहुंचा। राजासे कहा, "महाराज हमारी आप चौबीस घंटेकी समाधि देखो।" राजाने कहा "अच्छा दिखावो अपनी २४ घंटेकी समाधि, फिर जो चाहोगे वह इनाम दूंगा। तुरन्त ही साधुने सोच लिया कि मुझे यह इनाम लेना है। क्या लेना है सो समाधि पूर्ण होने पर एकदम तुरन्त वही कह देगा। लगायी समाधि। आंखें बन्द, नकुवा बन्द, साधु बैठा है समाधि लगाए। जैसे ही २४ घंटे हुए तुरन्त कहता है "लावो काला घोड़ा।" उसने पहिले ही सोच लिया था कि राजाका काला घोड़ा बहुत अच्छा है, यही लूंगा। उसका लक्ष्य उसी पर था, जिसने लक्ष्य जिसकी सिद्धिका किया है उसको पद पदमें वही दिखेगा जिसका जो लक्ष्य बना है वह बात यहां वहांकी करके भी अपने गुर पर आ जायगा।

तपका मर्म— तपस्या क्या है? ज्ञाता द्रष्टा रहें, रागद्वेष दूर हों, अपने स्वरूपमें स्थिर हों, अपने स्वरूपसे चलित न हों, बाहरमें कहीं उपयोग ही न जाय, अन्तर्मुख हो जायें यही तो वास्तविक तप है, और बहिरङ्ग तप जितने हैं वे सब इस परमार्थ तपकी साधनाके लिए हैं। जो देहसे भिन्न अविनाशी इस कारणपरमात्मतत्त्वको नहीं जानता है वह उत्कृष्ट तप करके भी निर्वाणको प्राप्त नहीं होता। निर्वाणकी सिद्धि निश्चय तपके बिना नहीं है।

दृष्टव्य और प्राप्तव्य— भैया! तप करके क्या पाना है? क्या कोई नई चीज पानी है? नया तो कुछ बनता ही नहीं है, जो सत् है उसका

अभाव नहीं होता है, जो असत् है उसकी उत्पत्ति नहीं होती। आनन्दमय होनेके लिए, निर्वाण पानेके लिए करना कुछ नहीं है किन्तु करना को ही छोड़ना है। अपने स्वरूपसे अनभिज्ञ होकर विकल्प विषयकषाय, रागद्वेष, मन, वचन, कायकी जो चेष्टाएं की जा रही हैं, इनको समाप्त करना है, नया कुछ नहीं करना है। जितना उल्टा चल रहे हैं, उतना मुकरना भर है। यह कारणपरमात्मतत्त्व तो मुझ उपयोगको सुखी करनेके लिए अनादिसे ही तैयार है। प्रतीक्षा मानों कर रहा हो कि रे उपयोग ! तू एक बार मेरी ओर दृष्टि तो करले, फिर मेरा तो पूरा वश चल सकता है कि तुझे संसारके सकटोंसे बचा दूं, किन्तु मैं समर्थ हू इस मुझसे तू विमुख है तो मै तुझे बचा नही सकता। रे उपयोग ! तू इस मुझ कारणसमयसारकी ओर रुचि तो कर, फिर मैं तेरे शुद्ध परिणमनका निर्माण करूंगा पर पहिली बार एक बार तो तू मेरी ओर उन्मुख हो।

निर्वाणका कारण परमशरणका आलम्बन— अहो ! यह कारण-परमात्मतत्त्व इस मुझको सुखी और उन्नत बनानेके लिए अनादिकालसे साथ है, पर यह मै उपयोगात्मक इस अन्त:प्रकाशमान् प्रभुता पर दृष्टि नहीं दे रहा हूं। देखो इस देह देवालयमे विराजमान् है। अपना परमशरण परमात्मा, प्रियतम, वल्लभ पर इसकी दृष्टि हुए विना धर्मके नाम पर भी कितना ही श्रम किया जाय किन्तु उससे मुक्तिका मार्ग प्राप्त नहीं होता है। इससे यह निर्णय रखना कि मैं अधिकाधिक समय इस ध्यानमें विताऊं कि मैं यह निरखा करूँ अन्तरमें कि इन चर्मचक्षुवोंसे, देहसे सबसे अस्पृष्ट यह चित्स्वभावमात्र मैं आत्मतत्त्व हूं— ऐसा जो जानता है वह निर्वाणको प्राप्त हो सकता है।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥ ३४ ॥

अज्ञानी और ज्ञानीकी अन्तर्वृत्ति— पूर्व श्लोकमें यह बताया गया है कि जो प्राणी देहसे भिन्न आत्माको नहीं जानता है वह बड़ा घोर तप भी करे तिस पर भी निर्वाणको प्राप्त नहीं होता। उसकी ही प्रतिक्रियामें इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि आत्मा और देहके भेदका ज्ञान होने से जो सहज आल्हाद उत्पन्न होता है उससे जो रचा भरा पूरा है, ऐसा पुरुष तपस्याके द्वारा घोर दुष्कृतको भी भोग रहा हो तो भी रंच खेदको प्राप्त नहीं होता। अज्ञानी जीव तप करके भी निर्वाणको प्राप्त नहीं होता और ज्ञानी जीव तपस्याके बलसे घोर दुष्कृत कर्मफलको भी भोग रहा हो तो भी रंच खेदको प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानका प्रभुत्व— भैया ! खेद है कहा ? सुख, दुःख, आनन्द सब कुछ इस ज्ञानकी कला व विकलामें भरा पड़ा हुआ है। जैसी कल्पना जीव की है वैसा ही जीवपर खेद अथवा सुख गुजरता है। किसने देह और आत्मामें भेद विज्ञान किया है, आत्मा तो आकाशवत निर्लेप अमूर्त ज्ञानघन आनन्दमय भावात्मकतत्त्व है और यह देह शरीर वर्गणावोंका पिण्ड पौद्गलिक भौतिक, देखनेमें आने वाला, छुवा जा सकने वाला ऐसा यह विनाशीक मायारूप है। इन दोनोंमें रच भी समता नहीं है किन्तु व्यामोह की ऐसी लीला है कि अत्यन्त विषम भी है तो भी इनको यह व्यामोही एक कर डालता है। शास्त्र पढ़ लेनेसे ज्ञानी नहीं कहलाता, किन्तु ज्ञानस्वरूप का ज्ञान हो जाने से ज्ञानी कहलाता है।

मर्मबोधशून्य अक्षरविद्यासे विडम्बना— एक कथानक है। एक गुरुके पास कुछ शिष्य पढते थे। उनमें एक शिष्य अपना पाठ खूब कठस्थ कर लेता था। गुरु जी के एक लड़की थी, सो सोचा कि अपनी लड़कीका इस शिष्यके साथ विवाह करदें। सो उस शिष्यके साथ उसने अपनी लड़की का विवाह कर दिया। वह पढ तो बहुत गया था सो चार ६ माह बाद एक दिन ख्यालमें आया एक श्लोक पढ़ा है कि 'भार्या रूपवती शत्रु.।' रूपवती स्त्री हो तो वह शत्रु है। उसका मर्म तो कुछ और है, पर उसकी स्त्री रूपवती थी, सो उसने उस श्लोक से यह शिक्षा ली कि इसकी नाक काट दें, रूप न रहेगा तो फिर हमारी शत्रु न रहेगी। उसने स्त्री की नाक काट दिया। गुरुने क्रुद्ध होकर उसे घरसे निकाल दिया। सोचा कि यह तो बड़ा मूर्ख आदमी है। चला गया घरसे। सोचा किस ओर चलना चाहिए तो फिर शास्त्रका एक श्लोकाश याद किया—'महाजनो येन गतः स पन्था'।' जिस रास्ते से बडे पुरुष जायें वह रास्ता चलने योग्य है। उस समय एक सेटका लड़का गुजर गया था। बड़े-बड़े लोग श्मशान घाट पर उसे लिए जा रहे थे। सो उनके ही पीछे यह थोड़ासा कलेवा लेकर चल दिया। वे लोग तो अपनी क्रिया करके वापिस हो गये, वह मरघटमें बैठ गया।

मर्मबोधशून्य अक्षरविद्याके प्रयोगसे आपत्ति— अब अक्षरभट्ट महाराजको लगी थी भूख, सो खाना खाने की उसने सोची इसी समय एक श्लोकाश याद आया कि— 'बंधुभिः सह भोक्तव्यम्।' भोजन बांधवों केसाथ करना चाहिए। सोचा यहां बधु कौन है ? फिर श्लोकाश याद किया। 'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बांधवः।' कचेहरी में और मरघटमें जो साथ दे वही बान्धव है। सो मरघटमें देखा कि यहां कौन बान्धव है ? सो एक गधा चर रहा था, उसने सोचा कि यही मेरा बान्धव

है। सो उसके कान पकड़कर पास ले आया और आधा गधेको खिलाया आधा स्वयं खाया। चलो यह श्लोक भी पूरा हुआ। उसने फिर श्लोकांश याद किया 'बंधु धर्मेण योजयेत्' तो भाई को धर्ममें लगाना चाहिए। सोचा कि यह गधा हमारा भाई है तो इसे धर्ममें लगाना चाहिए। अब धर्मको ढूँढ़ा। फिर श्लोकांश याद आ गया 'धर्मस्य त्वरिता गतिः।' धर्मकी बड़ी तीव्र गति होती है। वहां जा रहा था एक ऊँट, वह बड़ी तेज गतिसे चल रहा था, सोचा कि इसकी बड़ी तीव्र गति है, यही धर्म है। बंधुको इस धर्म मे जोड़ना चाहिए। सो एक रस्सीसे गधेको उस ऊँटके गलेमें बांधकर लटका दिया। अब वह गधा बड़े संकटमें था, सो गधे वाले ने दौड़कर इन की मरम्मत की व गधेको छुड़ाया तो शास्त्रज्ञान बहुत जाना पर इससे विद्या प्रकट नहीं हुई।

खेदविलयका उपाय ज्ञानानुभव— ज्ञान प्रकट होता है ज्ञानस्वरूप निज अतस्तत्त्वका अनुभव हो जाने से। ओह सबसे न्यारा यह ज्ञानमात्र, यह नवाब साहब तो यह मैं खुद ही हूं, जहां ऐसा बोध हुआ वहां उसे जो आनन्द प्रकट होता है, उस आनन्दको भोगने वाला आत्मा बड़ी तपस्यावों को भी करे और उन तपस्यावोंके द्वारा पूर्वबद्ध दुष्कृत क्लेशोंमें भी आए तो भी उसे रंच खेद नहीं होता है। संसारके प्राणी अपना खेद मिटाने के लिए किसी विषयभूत पदार्थका संचय किया करते हैं किन्तु यह उपाय तो इस प्रकारका है कि जैसे कोई घी डालकर अग्निको बुझाना चाहता है। अग्नि जल रही हो कोई उसमें घी डाल कर बुझानेका यत्न करे तो वह आग बुझेगी या और बढ़ेगी ? वह तो बढ़ जायेगी। यों ही वेदना मिटानेके लिए राग बढ़ानेका यत्न करते हैं तो रागसे उत्पन्न हुए क्लेश रागसे मिटेंगे या बढ़ेंगे ? बढ़ेंगे। खूनका दाग खूनसे ही कैसे मिट जायेगा ? नहीं मिट सकता। यों ही मोह और रागके परिणाम से वेदना हुई है, और उस वेदनाको मिटानेके लिए राग और मोहका ही उपाय किया तो उससे शांति कहां मिल सकती है ?

संतोंके उपसर्गमें भी खेदका अभाव— भैया ! पूर्वकालमें हुए बड़े तपस्वियोंका स्मरण करो। किसी मुनिको उसके वैरीने कडा भरे हुए घरमें बद करके कंडोंमें आग लगा दिया। अब सोचो इससे अधिक क्लेश और क्या कहा जा सकता है ? किन्तु वह मुनि वहीं समाधिमरण करके बहुत उच्च देव हुआ। एक मुनिको किसी प्रेमीने ही चूँकि उसे छोड़कर मुनि हुए थे, इस दु:खके मारे क्रोधवश उनकी चामको चाकुवोंसे छीलकर नमक बुरक कर अपनी कषाय शांत की। लेकिन वह मुनि उस ही स्थितिमें आनन्दमग्न

होकर निर्वाणको प्राप्त हुआ। वह बहुत बड़ा वैभववान् है जिसे सबसे न्यारे आत्मतत्त्व का निर्णय हो जाय। यहां हम आप लोग अधमंको खिचड़ी हैं, न तो पूरा मोह है और न पूरे विविक्त स्वरूपके निर्णय रखने वाले हैं, तो भले ही आश्चर्य मालूम पड़े, किन्तु जिन्होंने निजस्वरूपास्तित्वमात्र अपने आत्मतत्त्वका दर्शन किया है उसको तो जैसे लकड़ीमे आग लगा दी या दूसरेके सिरपर आग धर दी, इस ही प्रकार अपने सिर पर जलती हुई आगके ज्ञाता रहते हैं, उन्हें खेद नहीं होता है। यहीं अंदाज करलो, किसीमे जब तक शामिल है, उसे अपनाते हैं तब तक उसके दुःखमें दुःख माना करते हैं, और जैसे ही सम्बन्ध हट गया, फिर किस ही रूप परिणमन हो, खेद नहीं करते।

विभावपरिवर्तनका एक प्रसिद्ध दृष्टान्त— अंजना और पवनञ्जयका दृष्टान्त तो बड़ा प्रसिद्ध है। हनुमान जी को पवनसुत कहते हैं। कहीं वे हवाके पुत्र न थे किन्तु पवनकुमार अथवा पवनञ्जय राजपुत्रके पुत्र थे। जब सुना पवनञ्जयने कि हमारे विवाहकी चर्चा राजा महेन्द्रकी लड़की अञ्जना से हुई है, तीन दिन बाद शादीकी तिथि थी, लेकिन अनुरागवश वह तीन दिनका वियोग पवनञ्जयको असह्य हो गया। सो अपने मित्र प्रह्लादसे एकान्त वार्ता करके चले अञ्जनाको देखने के लिए। सो गुप्त ही चले कि देखें आखिर अञ्जना कौन है? वे उसे छुपकर देखने लगे। वहां हाल क्या हो रहा था कि अञ्जना अपनी कुछ सखियों समेत बागमे घूम रही थी। सो सखियां अञ्जनासे जैसी चाहे बातें करें। अब तो तुहारी शादी होने वाली है, अजी उस राजपुत्रसे हो रही है। यदि अमुक राजकुमारसे शादी होती तो ठीक था, कोई सखी कहे—अजी क्या पवनञ्जयसे सगाई हुई, अमुक राजकुमारसे शादी होती तो ठीक था। कोई सखी कुछ कहे, कोई कुछ कहे। पवनञ्जय सब सुन रहा था। छिपकर और अञ्जना लज्जाके मारे चुपचाप बैठी हुई थी। यहां पवनञ्जयने क्या भ्रम किया कि हम इस अञ्जनाको सुहाते नहीं हैं, सो उन्हें इतना गुस्सा आया कि सोचा इन सखियोंका और अंजनाका सिर उड़ा दें। देखो ठाढ़े बैठेमें कैसी कैसी विडम्बनाओंके परिणाम हो जाया करते हैं? पर प्रह्लादने रोक दिया कि ऐ राजपुत्र ऐसा मत करो। फिर पवनञ्जयके मनमें ऐसा आया कि शादी बंद करा दें। फिर सोचा कि यदि शादी ही बंद करा दी तो फिर इसको फल ही क्या चखाया? अच्छा शादी हो जाय, फिर इससे बोलेंगे ही नहीं, इसका परिहार कर देंगे। शादीके बाद २२ वर्ष तक अञ्जनाका त्याग किए रहे पवनञ्जय।

पवनञ्जयके विभावपरिवर्तनकी द्वितीय प्रमुख घटना— यह रावण के पिताके समयकी घटना है। तो रावणके पुरुखोंने जिनका कि एकछत्र राज्य फैला हुआ था, सब राजावोंकी सेनाओंको बुलाया, तो वहां पवनञ्जयके पिताके पास भी संदेश आया था, तो पवनञ्जयने निवेदन किया कि मेरे रहते हुए आप क्यों जायें ? चले पवनञ्जय, रात्रिको एक तालाबके पास अपना डेरा डाला, और क्या देखा कि चकवा चकवी वियोगके कारण चिल्ला रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं। ओह ! सोचा कि ये रात्रि भरका वियोग नहीं सह सकते, और मैंने निरपराध अञ्जनाका २२ वर्ष तक परित्याग किया। रात ही रात छिपकर पवनञ्जय अञ्जनासे मिलनेके लिए चला। छिपकर इसलिए चला कि लोग यह न समझें कि, गए थे युद्धके लिए और कायर बनकर लौटकर आ गए। तो पवनञ्जय पहुंचे अञ्जनाके महलमें। उससे मिलकर फिर प्रातःकाल वहांसे चल दिया। चलते समय अञ्जनाने कहा, कि "आप बहुत दिनोंमें तो आये हैं, और किसीको पता नहीं।" सारा लोक जानता है कि राजपुत्र अञ्जनाका परित्याग किए हुए हैं, तो कमसे कम माता पितासे कहकर जावो कि आज अञ्जनाके महलमें आये हैं। लेकिन कैसे कहें ? उसे तो अपनी शान रखनी थी। कहा कि 'यह अंगूठी लो, यही हमारी निशानी है।"

पवनञ्जयकी अन्तिम विचित्र घटना— अब चल दिया पवनञ्जय वापिस। अब यहां अञ्जनाके गर्भ था। सासने घरसे अञ्जनाको निकाल दिया। कहीं उसको शरण नहीं मिली। भटकते भटकते एक जङ्गलमें पहुंची। जङ्गलमें गुफामें ही रहने लगी। वहां वह बहुत आरामसे रही। गुफा के देव रक्षक थे। जब पवनञ्जयने ६ माह बाद, वापिस आकर देखा कि यहां अञ्जना नहीं तो कहा, "हाय ! मैंने निरपराध अञ्जनाको इतना कष्ट दिया है ?" दुःखके मारे पवनञ्जय खाना पीना छोड़कर उस अञ्जनाकी तलाश करने लगा। और पवनञ्जयने यह सकल्प कर लिया कि यदि अञ्जना न मिलेगी तो अग्निमें जलकर मर जाऊंगा।। बड़े पुरुषोंकी बातें होती हैं। अञ्जनाके गर्भ था और उस गर्भके कारण ही सासने उसे घरसे निकाला था। अञ्जनाने एक गुफामें, निर्जन स्थानमें हनुमान जीको जन्म दिया था। उस समय उनके देव रक्षक थे। बड़ी कथाएँ है। तो आप यह देखो कि पहिले अञ्जनाके प्रति पवनञ्जयका क्या भाव था, पश्चात् छोड़ने में देर न लगी। फिर देखो अञ्जनाके बिछुड़ जाने पर पवनञ्जयने अपना मरण तक कर लेनेका भाव बनाया। कैसा भावोंका परिवर्तन होता है ?

लोकमें अटपट, बेकायदा सम्बन्ध— जिससे अपना चित्त हट

जाता है फिर उसकी ओर दृष्टि नहीं रहती है। ज्ञानी पुरुष आत्मा और देहमें अन्तर ज्ञात कर रहा है। यह सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत अपरिणामी भावात्मक मैं आत्मतत्त्व हूं, और यह देह पौद्गलिक है। जिसने प्रकट न्यारा जाना अपने आपको उसको जो आल्हाद उत्पन्न होता है, बस वही निर्वाणका कारण है। कठिन काम बन जाय तो सदाको आराम रहता है। और छोटे मोटे कामोंसे तत्काल तो कुछ साता मालूम होता है पर सदाको निश्चितता नहीं आती। ये सब थोथे छोटे काम हैं राग, स्नेह, मोहके। क्या हैं? अट्ट सट्ट सारा मामला है। आज तुम्हारे घरमें जो जीव आये हैं बजाय इसके कोई और जीव आ जाते तो? आपको तो मोहकी प्रकृति पड़ी है, सो कोई आये उसीमें मोह करते। कहीं किसीका नाम तो नहीं खुदा है कि मेरे मोहका यह ही विषय है। जब यह देह भी मेरे साथ नहीं रह सकता है तो अन्य पदार्थोंकी चर्चा ही क्या है?

देहका निर्माण— सिद्धान्तके अनुसार यह देह क्या है? यह स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर कहो या औदारिक शरीर कहो दोनोंका एक अर्थ है। उदार मायने स्थूल, और स्थूल शरीरका जो परिणमन है उसका नाम है औदारिक। इस औदारिक शरीरकी रचना आहारवर्गणाके परमाणुवों से हुई है। जब तक इस जीवने उन आहारवर्गणावोंके परमाणुवोंको ग्रहण नहीं किया था तब तक ये परमाणु बहुत शुद्ध पवित्र थे। जैसे ही इस जीवने उन परमाणुवोंको ग्रहण किया तो हाड़, मांस, खून, वीर्य आदि नाना अपवित्र रूप परिणम गया।

मूलमें अपवित्र कौन?— वस्तुतः अपवित्र कौन है? इसका निर्णय करिये। लोकमें बच्चोंमें यह रीति है कि किसी बालकका पैर विष्टामें छू जाय तो वह बालक अछूत हो गया, जब तक कि वह नहा न ले। यदि वह अछूत बालक किसी दूसरेको छू ले तो वह भी अछूत, और दूसरा तीसरेको छू ले तो वह भी अछूत, इसी तरह चौथे को, यही चलता आता है। जरा यह तो मालूम करो कि जड़में अछूत कौन था? वह एक बालक। तो जरा अपवित्रताका भी ध्यान करो। लड़कोंके पासकी जो नालियां हैं उनसे कितनी बदबू आती है, छींट गिर जाय तो नहाते हैं। क्या उन नालियोंमें अपवित्र चीज मरे हुए कीड़ोंका कलेवर है? तो वह जो मृत मांस है उसकी जड़ क्या है? उन कीड़ोंका जीवित शरीर, और मृत शरीर भी अपवित्र है। उसका मूल क्या है? क्यों बना यह ऐसा शरीर? यों कि इस मोही जीवने उन परमाणुवोंका स्पर्श कर डाला तो जिसके छूने से यह शरीर अछूत बना तो अछूत शरीर है या मोही जीव है? मोही

जीव ही अछूत हुआ। जीव तो अछूत नहीं है, पर मोहके सम्बन्धसे जीव अछूत बन गया। तो जीव अछूत हुआ या मोह? मोह अछूत हुआ। तो अपवित्र कौन रहा मूलमें? ये गंदी नालियां अपवित्र नहीं हैं, इनको अपवित्र करने वाला मूलमें तो मोह भाव है।

व्यामोहकी विचित्रता— फिर सोचिये नालियोंका कारण शरीर। शरीरका कारण जीवित शरीर। जीवित शरीरका कारण मोहीका सम्बन्ध और जीवके अपवित्र होनेका कारण है मोहका सम्बन्ध। तो दुनियामें सबसे अपवित्र चीज क्या है? मोह। मोहसे गन्दा मल नहीं है, विष्टा नहीं है, कोई सड़ी गली चीज उतनी गन्दी नहीं है जितना गन्दा मोह परिणाम है। कोई मनुष्य विष्टाको देखकर ग्लानि करे, और थूक दे और मांसको देखकर ग्लानि न आए और खाते हुए भी ग्लानि न करे तो यह बतलावो कि सबसे अधिक ग्लानिकी चीज, विष्टासे भी अपवित्र तो मांस है, मगर दृष्टि व्यामोहमें ऐसी विचित्र हो जाती है कि सब अट्टसट्ट बर्ताव चलता है।

ज्ञानप्रकाश— ज्ञानोंमें ज्ञान यह उत्कृष्ट ज्ञान है कि सबसे न्यारा, देहसे भी जुदा ज्ञानमात्र निज अंतरतत्त्वका ज्ञान बना रहना। धन, वैभव, हाथी, घोड़ा, मकान ये कुछ काम न आयेंगे किन्तु ज्ञानमय आत्माका अपने ज्ञानस्वरूपका ज्ञान हो जाय तो यह ज्ञान संसारके समस्त संकटोंको दूर कर देता है। इस कारण सब बल पूर्वक यत्न करो और ज्ञानसम्पादन का यत्न करो। हिम्मत ऐसी बनावो। जितना आ गया ठीक है, न रहेगा ठीक है। उसके आने जानेसे मेरी आत्माका सुधार बिगाड़ नहीं है, पर अविद्या और विद्याका वास होनेसे आत्माका बिगाड़ और सुधार है। जैसे जिसको जिससे कोई सुखकी आशा नहीं है तो उसके द्वारा बहुत मनाये जाने पर भी उसका आकर्षण नहीं होता। यों ही ज्ञानी संतोंको किसी भी परपदार्थसे हितकी आशा नहीं है। सो किसी भी पदार्थके संगसे, मनाए जानेसे इनका उसकी ओर आकर्षण नहीं होना है। ज्ञानका चमत्कार एक अद्भुत चमत्कार है। ज्ञान आये तो सारा धन वैभव काक बीट की तरह प्रतिभास होता है। अपनी चीज अपनेको मानना क्यों कठिन हो रहा है? गुप्त भान करे, ज्ञानमय यत्न करे और ज्ञानप्रकाश पाकर सदा सुखी रहनेका परिणमन पाये।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः। ३५॥

अलोलचित्त व लोलचित्तके परिणाम— जिसका मनरूपी जल

रागद्वेषादिक तरंगोंसे चलित नहीं होता है, अक्षोभ रहता है वह ही पुरुष आत्माके मर्मको देख सकता है। दूसरा रागद्वेषकी तरंगोंसे खिचा हुआ पुरुष आत्माके मर्मको नहीं जान सकता। बड़ी तपस्यायें भी कर ली जायें किन्तु अन्तरसे रागद्वेष नहीं हटते तो अहो आत्मतत्त्वको देखना तो दूर रहा, यदि बुद्धिपूर्वक रागद्वेष बसाया हो और साधु भेष रखकर जगतमें अपनी मान्यताका विस्तार किया हो तो वह उनके लिए अहितकी बात है और ऐसे कपटभावका फल अत्यन्त निम्नकोटिकी गतिमें पहुंचना है।

निजदर्शनका कारण स्वच्छता और निस्तरंगता— जैसे किसी निर्दोष जल वाले तालाबमें कोई पुरुष अपने चेहरेको देख लेता है तो उस पानीमें अपना चेहरा दिखनेके वहां दो कारण हैं—एक तो पानीमें गंदगी का न होना, दूसरे पानी में लहरें न उठना। कोई पानी लहरोंसे तो दूर है किन्तु गंदा है वहां अपनी छाया नहीं दिख सकती है। पानी गंदा तो रंच भी नहीं है पर लहरें चल रही हैं उसमें भी अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखता है। ऐसे ही मोहकी तो गंदगी न हो और रागद्वेषकी तरंगें न उठें ऐसा चित्तमें, ज्ञानमें आत्माका तत्त्व, परछायी स्वरूप दिख सकता है।

मोहान्धकी गरीबी— मोह भाव जैसा अंधकार इस लोकमें दूसरा कुछ नहीं है। बतावो, न कुछ सम्बन्ध, सब पराये, सब भिन्न, कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे आया। उनमेंसे एक दो जीवोंको छांटकर जो कि मोही हैं, अज्ञानी हैं, संसारके जालमें फसे हुए हैं ऐसे मोही अपवित्र जीवोंके लिए तन, मन, धन, वचन सब कुछ समर्पण कर देना और अपने आपको सेवककी तरह रखना, प्यासे रह जायें, भूखे रह जायें, खुद दुःखी हो जायें पर उन दूसरोंको प्रसन्न ही निरखना चाहते हैं ऐसी स्थिति बतावो कितनी गरीबीकी स्थिति है।

आशयकी गन्दगीमें यथार्थताका अदर्शन— जिसका मनोजल रागद्वेषकी तरंगोंसे चलायमान है उसको तत्त्व नहीं दिखता और उन साधुवों को भी, जिनके मोह नहीं रहा किन्तु रागद्वेषकी वासना बसी है और तरंग चल रही हैं ऐसे साधु संतोंको भी उस तत्त्वका दर्शन नहीं है। इन कल्लोलों का कारण होता है पर्यायबुद्धि। यह मैं हूं, मैं साधु हूं और यह जनता सब सेवक है, गृहस्थ है, श्रावक है, मैं इतने स्टैण्डर्डका हूं, मुझे यों देखकर चलना चाहिए, क्योंकि मैं मुनि हूं— ऐसी सारी प्रतीतियां ये मोह भरी प्रतीतियां हैं। कितना मोह भरा है? जितना मोह गृहस्थको है उतना ही मोह उस साधुमें है जो अपने आपको सच्चिदानन्द आनन्दस्वरूप न जान कर मानता है कि मैं साधु हूं। जैसे कोई गृहस्थ मानता है कि मैं गृहस्थ

हूं तो उसने भी पर्यायमे आपा माना। तो एक ने कोई भेष रखकर माना कि मैं साधु हूं तो उसने भी पर्यायमें आपा माना।

मोहकी एक रेखा— भैया! मोह मोहके अंधकारमे अंतर नहीं हुआ करता। राग द्वेषमें अन्तर होता है। मोह तो जब मिटा सो मिटा। राग-द्वेष तो कम हो जाता है पर मोहमें एक ही फैसला है। है तो है, नहीं है तो नहीं है। कोई पुरुष केवल बाप-बेटा ही हो या पुरुष स्त्री ही हो, एक ही हो घरमें और यह सोचे या कहे कि मैंने बहुतोंका मोह दूर कर दिया है सिर्फ एक प्राणी भरका मोह है। सो शायद बहुत कुछ सम्यक्त्व तो हो गया होगा। केवल एक प्राणीका मोह है, इतनी भर कसर है। पर इतनी भर कसर नहीं है, जितनी कसर १० प्राणियोंमें मोह करने वाले को है, वहो उससे भी ज्यादा कसर एक प्राणीमे मोह रखने वालेको हो। आखोंके आगे तिलभर एक कागजका टुकड़ा चिपका हो और चाहे ढेरो कागज सामने रखलो—न दिखनेका काम दोनों दशावोंमे एकसा है। ० प्राणियोंमें राग करने से और हजारमे और लाखमे अपना अनुराग करनेसे वहो वह अनुराग पसरकर पतला हो सकता है और उतनी दृढ़ शल्य करने वाला न होगा। और एक ही प्राणीमे केन्द्रित हुआ राग गाढ़ा राग है। सो मोह भी ऐसी विचित्र स्थितिका भाव है कि चाहे कोई अपने को मैं मनुष्य हू ऐसा समझे, मैं श्रावक हूं ऐसा समझे, मै त्यागी हूं, साधु हूं क्षुल्लक हूं ऐसी प्रतीति करें, सब मोहकी एक लाइनमें पड़े हुए हैं।

ज्ञानीकी रुचि और अज्ञानीकी वासना— जैसे ज्ञानी गृहस्थ को दुकानके या बाहरी कामके करनेमें झंझट लगता है और चूंकि ज्ञानकला जगी है, ज्ञान है सो व्यवस्था इतनी सुन्दर रखता है कि दूसरे नही रख सकते। फिर भी वह ज्ञानी गृहस्थ विरक्त भावसे बाहरी कामोंको करता है। करना पड़ता है 'गले पड़े बजाय सरे'। जैसी स्थिति हो जाती है। ऐसे ही साधुसंत पुरुषोंको अपनी चर्यासे चलना पड़ता है, उनकी स्थिति हो जाती है पर रुचि इस ओर नहीं रहती है कि मैं साधु हूं, मुझे इस तरह चलना चाहिए। ऐसा ख्याल करे तो यह बच्चों जैसा खेल हो गया। बच्चे लोग भी खेलमें कभी कुछसे कुछ बन जाते हैं—चोर बन जायें, सिपाही बन जायें, अथवा बरातके खेल हैं—यह दूल्हा है, यह इनका बाप है, यह लड़की है। वे ८, १० वर्षके बच्चे खेलमें ऐसी कल्पनाएँ कर बैठते हैं। ऐसे ही इस चित्स्वभावके परिचयसे रहित अज्ञानी गरीब, मिथ्यावासित हृदय अपनेको जो परिणति प्राप्त हुई है तद्रूप विश्वास रखते हुए हैं।

मोहकी भीतरी अज्ञात चोट— भैया! जरा गम्भीर दृष्टिसे तो देखो

कितना अन्तरमें है यह सम्यक्त्व प्रकाश। कोई मुनि किसी शत्रुके द्वारा कोल्हूमें भी पेला जा रहा हो और फिर भी मुनि उस शत्रु पर द्वेष न करता हो। विवेक रखता हो कि मैं साधु हू, मुझे द्वेष न करना चाहिए, ऐसी प्रतीति यदि है तो द्वेषकी तरंगकी तो बात क्या कहें अभी मोह और मिथ्यात्वकी गंदगी भी है। एक आत्माके स्वरूपसे नाता रखकर ज्ञायक स्वरूपमात्र मैं हूं ऐसी ही सुध बनाते हुए अब चूंकि बहुतसा रागद्वेष भाव घट गया है तो अब कौन कपड़ोंके संभालनेमें लगे, कौन घरकी संभाल में लगे, कौन आरम्भके कार्योंमें लगे, सो सहज ही ऐसी उनकी चर्या चलने लगती है जो साधुधर्मके अनुकूल है। यह उनकी अंतरङ्गचर्या है और जो यह कहे कि मैं साधु हू, मुझे यों करना चाहिए, यह उसका हठ योग है, सहजयोग नहीं है। अब जानो कि रागद्वेष और मोहमें कल्लोल और गंदगियां कितनी गहरी हुआ करती हैं।

संतोष्य और असंतोष्य कृति— मान लो धर्मके नामपर कोई थोड़ा बहुत कार्य करके कोई पूजा करले, विधान करले और अपने को माने कि मैंने सब कुछ कर लिया है तो यह उसका भ्रम है। कितने ही भादों व्यतीत कर डाले, कितनी ही दसलाक्षणी गुजार डाली और जब-जब दस लाक्षणी आती है तब तब उतनी ही बातें जाननकी आदत बीसों, पचासों वर्षोंसे पड़ी है। उतना ही कार्य करके अपने को कृतार्थ मान लेते हैं। किन्तु धर्म का मर्म कितना गहरा है? हम कभी इन धार्मिक प्रसंगोंमें सर्व परवस्तुवों को भूलकर केवल ज्ञानप्रकाशका ही अनुभव ला सकते हों ऐसी स्थिति आए तो संतोष कीजिए। परिवारके, वैभवके या समाजके बीच कुछ भली चेष्टा कर लेना इसका संतोष न कीजिए। संतोष होना चाहिए निज ज्ञान-सुधारसके स्वादका; जिसका ज्ञान जल, मनोजल, रागद्वेषादिककी कल्लोलों से अलोल है वह ही आत्माका तत्त्व देख सकता है। धर्ममें किसीको दिखाना नहीं है। धर्म तो सहज ज्ञानस्वभावकी दृष्टि पर निर्भर है। जो कर सके उसीका भला होता है। पूजामें पढ़ा करते हो ना—चाहे अपवित्र होऊँ, चाहे पवित्र होऊँ, चाहे अच्छे आसनसे खड़ा होऊँ, चाहे अटपट खड़ा होऊँ, कैसी भी अवस्थामें होऊँ, यदि इस आत्मतत्त्वका ध्यान है, परमात्मस्वरूपका स्मरण है तो वह सर्वत्र पवित्र है।

चर्मनिरीक्षणका व्यामोह— शब्द तो कुछ कटु या कठिन है, पर यह तो बतावो कि चमड़ेकी परीक्षा रखने वालेका क्या नाम रक्खा है इस दुनियाके लोगोंने? यह गायका चमड़ा है, यह भैंसका चमड़ा है, यह मुलायम है, यह ठीक है, इनकी जिसे परीक्षा होती है उसे क्या कहते हैं?

कुछ कठिन पड़ जायगा। हम यदि अपने ही चमड़ेको ही निरखते रहें— बड़ा प्यारा है, बड़ा अच्छा है, ठीक है, अथवा राग करके दूसरेकी चमड़ी को देखकर तो सुननेमें, कहनेमें बुरा न लगता हो तो कह डालो मनमें? जो चर्मके परीक्षकको कहते हो।

चर्मके उपहासकोंको सम्बोधन—एक बहुत पहिले ऋषि हो गए हैं जिनका नाम था अष्टावक्र। जिसके आठो अंग टेढ़े थे। एक बार सभा भरी थी। कहा कि कुछ हम भी बोलें। सो जब वह खड़े हुए तो उनकी शक्ल देखकर दरबारके लोग सब हंसने लगे। जिसको कुछ थोड़ा इस इतिहासका पता हो वह खुद जान जायें कि अष्टावक्रने लोगोंको क्या सम्बोधन करके बोला और फिर उसका विश्लेषण किया कि 'जब आप सब लोग मेरे चमड़ेका खूब निरीक्षण कर सकते हैं तो मैंने आपके परिचयको भी जान लिया है। सब अपनी अपनी सोचो कि हम अपनी सोचें कि हम अपनी इस देहसे कितना प्यार रखते हैं? मानों इसके अतिरिक्त मैं और कुछ हूं ही नहीं। अपने सत्त्वसे विस्मृत हो जाते हैं तो हम चर्मके ही तो निरीक्षक रहे।

ज्ञानकी अबाध गति—भैया! ज्ञानमे तो वह बल है कि बड़े बड़े अजोको भी पार करके लक्ष्य पर यह ज्ञान पहुच जाता है। आपके घरमे कोई दो तीन कमरोंमेसे गुजर कर कहीं तिजोरी रक्खी हो और उस तिजोरीमें भी और भीतर तिजोड़ीनुमा किवाड़ हो, उसके भी भीतर ट्रंक हो, उसमें भी छोटी पेटी हो, उसमे भी डिब्बीमें आपका कोई रत्न, हीरा, अगूठी कुछ रक्खी हो, आप यहां बैठे हैं, आप उसे जानना चाहेंगे तो इस ज्ञानको वहां तक पहुंचनेमे कोई रुकावट डाल देता है क्योंकि किवाड़ लगे हैं तो ज्ञान दरवाजे पर बैठा रहे, किवाड़ खुलें तो कमरेमें जाऊं। तिजोरी बन्द है तो ज्ञान तिजोरीके पास बैठा रहे और कहे कि हम तो असुक हैं, यह तिजोरी लगी है सो उस अंगूठीके जाननेमे हमे कुछ रुकावट आती है। हम यहां बैठे हैं, किवाड़ोंको चीरकर, तिजोरीके फाटकको चीरकर, सबको पारकर वह ज्ञान सीधे उस अंगूठीको जान लेता है। तो जैसे बाहरकी चीजोंमें ज्ञानको भेजनेमें इतने कुशल बन रहे हैं तो इस ज्ञानको अपने ही ज्ञानस्वरूपमे भेजनेमें तो कोई पर्दे भी आड़में नहीं आते। यह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, सो अपने ही ज्ञानको जाननेमें तो कोई बीचमें आड़ भी नहीं आया करती है। फिर भी क्यों हम इस ज्ञानतत्त्वके निरखनेमें वंचित रहा करते हैं?

प्रमादपरिहारकी आवश्यकता— कोई कहे कि हमारा ज्ञान बाहरी

बाहरी रंगोंमें रंगा करता है तो उसको बहुत भीतर वापिस लेनेमें, स्वरूपमें लेनेमें, बहुत सी आड़ तो हैं, चमड़ा है, हड्डी है, खून है, मांस है। अरे ! तो ज्ञान दूरकी तिजोरियोंको भी पार करके पहुंच जाता है इष्ट वस्तुपर, वह ज्ञान इन सबको पार करके अन्तरमें रहने वाले निज प्रकाश को क्या पा नहीं सकता ? पर प्रमाद किया जा रहा है। मोक्षमार्गका प्रमाद कोई पहलवान हो, दंड बैठक लगा रहा हो, कुश्ती करता हो, शरीर बनाता हो तो वह भी प्रमादी है मोक्षमार्गका। निज अन्तस्तत्त्वका निश्चय करना, इसका ही ज्ञान करना, इसमें ही रमण करना यह कार्य तो निष्प्रमादका है और इससे विमुख होकर बाह्यपदार्थोंमें रमना, यह कार्य प्रमादका है। अब निष्प्रमाद होकर अपने ज्ञाननिधिकी रक्षा करो।

अवसर चूकनेका परिणाम— जैसे जिसको वेदना होती और वह अपनी वेदनाकी बात दूसरेको सुनाता है और दूसरा कोई हंसीमें टाल देता है तो वह कहता है कि भाई बात हंसीमें न टालो। यों ही यह आत्मतत्त्वकी बात हंसीमें टालने की नहीं है। यदि अन्तरमें ऐसा पुरुषार्थ न जगाया कि मोहपटलको बिलकुल दूर करें, हम निज स्वरूपका प्रकाश तो पा लें, देख लें, झलक तो करलें, यदि ऐसा पुरुषार्थ न कर सके तो ये मायामय पुरुष कुटुम्ब परिजन मित्र संग ये तो शरण हैं ही नहीं। स्वयं अशरण होकर, वराक दीन बनकर इस जगत्में लापता कलते फिरेंगे। धन वैभवकी क्या वकत है ? क्या करोगी इस धन वैभवका, खूब हृदयसे सोचो यह जब मोहकी नींदमें सो जाता है, और मायामय लोगोंका संग करता है, उनमें रहता है, बातचीत होती है, अपनी पोजीशनकी पकड़ जाती है, इज्जत रखना चाहता है तो जो इतना बड़ा अपराध करे उसको वैभवसे सिर मारना ही पड़ेगा।

परिचयी और अपरिचयीसे आशा क्या— भैया ! जो यह जानता है कि मैं गुप्त हूं, इस मुझ ज्ञानस्वरूपमें तो कोई बात भी नहीं है, यहां मेरा कोई परिचय वाला नहीं है, अपने आपमें— ऐसा विचारे अपने स्वरूपको देखकर। यदि कोई इस मुझ ज्ञानस्वरूपको यथार्थ रूपसे जानता है, तो उनका जानना एक सामान्य जानना हुआ ना। उस ज्ञातासे सन्मान अपमान ही नहीं हो सकता। उसमें इस मुझ व्यक्तिका परिचय ही नहीं है, और कोई इस ज्ञानस्वरूपको नहीं जानता है, इस चर्मको ही कुछ जानकर मानता है तो इस चर्मका क्या सन्मान रखना ? वह तो एक दिन जला दिया जायगा। भीतरको कोई पहिचानता नहीं तब दूसरोंसे क्या आशा करना ? यह चर्म मैं नहीं, तो किसलिए अपने चित्तपर इस परिग्रहभाव

का, मूर्च्छा भावका बोझ लादना।

कुछ थकान तो दूर करो— भैया! लोग किसी बड़े शारीरिक श्रम के कार्यसे थक करके भी तो चन्द मिनट आराम करते हैं। घसियारे, लकड़हारे भी तो ५ मिनटको अपने बोझेको पेड़से टिकाकर, हाथ पैर पसारकर, अपनी थकान मिटा लिया करते हैं, किन्तु यह व्यामोही पुरुष अपने अन्तरकी थकानसे, जो ममताके बोझको विकल्पोंको लादे हुए है उस लदानकी थकानसे थककर भी यह पाव सेकेण्ड भी ऐसा यत्न नहीं करता कि एक बार तो सारा बोझ अपने उपयोगसे उतारकर केवल शुद्ध ज्ञानमात्र जैसा मैं सहज हूं ऐसा ही रहकर परमविश्राम तो पा लें।

अलोल ज्ञानसिन्धुमे स्वच्छ उपयोग शय्या पर अच्युत प्रभुका निवास— जिसकी आत्मा रागद्वेषकी लहरोंसे लोल है, विह्वल है वह पुरुष धर्मके नाम पर बडे बड़े परिषह उपसर्ग भी सह ले तो भी वहां परमात्मतत्त्वका दर्शन नहीं होता है। इस परमात्मतत्त्वका दर्शन वही पुरुष कर सकता है जिसका यह मनरूपी जल रागद्वेषकी कल्लोलोंसे तरंगित नहीं है। कहते हैं ना कि जब जरा गर्दन झुकावो देख लो। अपने ही अन्तरके आयनेमें जब प्रभुकी शक्ल है, थोड़ा विकल्पोंको तोड़कर अन्तरमें दृष्टि करना है, बस यहीं देख लो। ऐसा अनुपम पुरुषार्थ करनेके लिए एक त्यागभावकी आवश्यकता है और वह त्यागभाव आत्मक हो, गृहस्थ हो तो परवाह नहीं पर अपना ज्ञान बादशाह तो अपने आपमें है, केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निहारना है। बस इस निरखनमें, इस झलकमें परमात्मतत्त्वके दर्शन होंगे, जिसके दर्शन करनेसे भव भवके समस्त पाप, संकट, कर्म नष्ट हो जाया करते हैं। इस तत्त्वको वही देख सकता है जिसके मोहकी गन्दगी न हो और रागद्वेष मोहकी तरंग न हो।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

तत्त्व और भ्रान्ति— मनका अविक्षिप्त रहना, रागादिक परिणति से परे रहना तथा देह और आत्माको एक माननेके विपरीत आशयसे रहित जो ज्ञानका होना, है इसही को मन कहा गया है। यहां मन शब्दसे ज्ञानका अर्थ लेना। जो ज्ञान अविक्षिप्त है वह तो आत्माका तत्त्व है और और जो विक्षिप्त मन है वह आत्माकी भ्रांति है।

विक्षिप्त मनकी प्रतिक्रिया— जब मन विक्षिप्त रहता है उस समय इस जीवको अन्तरमें आकुलता रहती है। जरा अपने जीवनकी पहिली कृतियोंको तो सोच लो, क्या क्या कृतियां कर डाली गयी हैं? आज उनके

फलमें कुछ भी लाभ वाली बात सामने नहीं है। बचपनमें कैसी-कैसी क्रीडावों और अज्ञान दशावोंमें रुलते रहे? आज विदित होता है कि वह सब कोरी अज्ञान दशा थी। जवानीमें सब विकारोंमें प्रमुख विकार एक काम होता है। इसकी चेष्टामें इस जीवसे क्यासे क्या अनर्थ किया? कितने ही मनुष्य तो बहुत परिवारके संकट आने से यह कहने भी लगते हैं कि यह सब विडम्बना एक स्त्री परिग्रहके कारण हुई है। स्त्री परिग्रहके कारण नहीं, किन्तु कामवासनाके कारण हुई है। जिस मनमें रागद्वेष बसे रहते हैं वह मन विक्षिप्त रहता है।

ज्ञानके अविक्षेपकी आवश्यकता— लोग चाहते हैं कि कमसे कम जब प्रभुका भजन किया जा रहा हो, सामायिकमें शुद्ध भक्ति की जा रही हो तो मन स्थिर रहे ऐसी भावना जगती है, परन्तु शिकायत रहती है कि सामायिकमें, जापमें मन स्थिर नहीं रहता। जब रागभरी वासनाएं बहुत बनी हुई हैं तो मन अविक्षिप्त कहांसे हो? कोशिश यह होना चाहिए कि हम तात्त्विक भेदविज्ञान प्राप्त करें जिससे परपदार्थोंकी रुचि हटे और मैं अपने आपमें अपने स्वरूपकी प्राप्ति करूँ। वहां ज्ञान अविक्षिप्त रहेगा।

विक्षेपका कारण विषय प्रीति— भैया! इस जीवने किया ही क्या? सिवाय इन्द्रिय विषय और मनका विषय भोगनेके ६ कामोंमें यह मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर देता है। स्पर्शन इन्द्रियका विषय भोगना, रसना इन्द्रियसे स्वाद लेना, घ्राणेन्द्रियसे सुगंध लेना, नेत्रेन्द्रियसे रूप देखना, कर्णेन्द्रियसे राग सुनना या अपने यश कीर्तिकी नामवरी चाहना—इन ६ इच्छावोंके कारण ही यह जीव विक्षिप्त बना है, उन्मत्त हो रहा है।

मोहियोंकी उन्मत्तता— अहो, देखो मोहियों द्वारा कैसी पागलकी भांति स्वरूप विरुद्ध चेष्टाएँ की जा रही हैं? सारा जहान प्रायः इसीमें चतुराई समझता है कि अपने विषयोंके साधन सही बनायें। उन्हें चतुराई से भोगकर इसमें ही बड़प्पन समझा जा रहा है और इसी आधार पर लोग बड़ा माना करते हैं। अमुक सेठ साहब बहुत बड़े आदमी हैं। बड़े आदमी हैं इसका तात्पर्य इतना ही है कि वैभव है और इन्द्रियके विषयोंके साधन भी बने हुए हैं, पर जिस बातके कारण लोग बड़ा समझते हैं वे सब बातें इस जीवकी तुच्छताकी हैं, भूल है। इसका स्वरूप तो प्रभुवत् अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दस्वरूप है, किन्तु विषयों आशामें इसने अपने उस अनन्तस्वरूपको खो दिया है, विक्षिप्त बना हुआ है, पागल बना हुआ है।

मोहियों की उन्मत्तचेष्टा— कोई किसीसे प्रेमभरी बात करता, तो किसीसे द्वेषभरी बात कहता, तो कोई कुछ भी बकता। आज जिससे प्रेम कर रहा है कल उससे द्वेष करने लगता, आज जिससे द्वेष किया जा रहा है कल उससे प्रेम करने लगता। यह सब क्या है? पगलोंकी चेष्टाएँ हैं। बाह्यपदार्थ जिनका स्वरूप मेरेमे त्रिकाल प्रविष्ट नहीं हो सकता, जो मेरेसे सर्वथा भिन्न है, उसे रखे रखे फिरता है, उसकी बुद्धिमें कल्पनाएँ बनाए फिरता है। अरे आत्मन् सोचो तो सही अकेले ही तो तुम जन्मे हो और अकेले ही मरणको प्राप्त होगे और इस जन्ममरणके बीच के जो दिन हैं उनमें भी तू अकेले ही कल्पनाएँ करता है, अकेले ही सुख भोगता है, अकेले ही दुःख भोगता है। क्या है तेरेमे लगा। किसके लिए तू इतना श्रम किये जा रहा है?

अविक्षिप्त होनेके लिये उलहनारूप शिक्षण— हे आत्मन् तेरे चित्तमे प्यार करनेकी कल्पना उठती है तो तू इस प्यारको इतना क्यों नहीं फैला देता कि वह प्यार फिर प्यार ही न रहे। सब जीव तेरे ही स्वरूपके समान तो हैं। फिर उनमे यह छटनी करना कि यह मेरा है, यह पराया है, यह क्या पागलो जैसी चेष्टा नहीं है। तू जिसे पराया मानता है वही तेरे घर में उत्पन्न हो अथवा तेरा मित्र बन जाय तो अपना मानने लगेगा। जिसे तू अपना मानता है, कोई प्रतिकूल बात बन जाय तो उसे तू शत्रुवत् मानने लगेगा। सब जीव तेरेसे अत्यन्त भिन्न एक ही प्रकारसे हैं पर अपने स्वभाव को भूलकर बाहरमे नाना कल्पनाएँ मचा रहा है, विक्षिप्त हो गया है, अपने आपको भूल गया है, बाहरी व्यवस्थावोंमे बड़ा चतुर बन रहा है और अपनी सुध खोनेमें भी प्रथम नम्बर पा रहा है।

बाह्यदृष्टिकी व्यवस्था— कोई एक बहुत शान रखने वाले, व्यवस्था बनाने वाले बाबू साहब थे। तो शामके समय अपने प्रधान निवासके कमरे को सजा रहे थे और नाम लिखते जा रहे थे कि इस जगह यह चीज रक्खी जायेगी। यहां जूते, यहां घड़ी, यहां छड़ी यहां कमीज, कोट सब लिखते जा रहे थे और उस जगह उस चीजको रखते जा रहे थे। अब ९॥ बज गये। व्यवस्थाकी धुन बराबर जारी है और इसी प्रसंगमे पलग पर लेट गये तो पलंगकी पाटी पर "मैं" लिख दिया अर्थात् यहां मैं धरा हूं, यहां घड़ी धरी है, वहां छड़ी धरी है। अब सोनेके बाद जब उठे तो उठकर सब व्यवस्था देखने लगे। ओह ठीक है। घड़ीकी जगह घड़ी है, जूतोंकी जगह जूते हैं, कोटकी जगह कोट है, ठीक है, सब निरखता जा रहा था। अपनी चारपाईकी पाटीको देखा तो वहां लिखा था मैं। सो खड़े

होकर इस पलंगको टोकने लगा और सब कुछ तो मिल गया पर पलंगपर मैं नहीं मिला। पलंगके चारके छिद्रमें भी देखा, लाठीसे ठोंक कर भी देखा कि कहीं मैं धँसा होऊं। बहुत ढूँढ़ा पर उसका मैं न मिला।

मैं कहां गुम गया— अब वह बाबू बड़ा दुःखी हो गया। अरे मैंने अपना मैं खो दिया। झट अपने नौकरको बुलाया, अरे मनुवा बड़ा गजब हो गया। क्या हो गया बाबू जी ? अरे मेरा मैं गुम गया। सो वह पागलों की जैसी बात सुनकर हँसने लगे। बाबू जी कहने लगे, अरे तू हँसता क्यों है, मेरा तो मैं गुम गया। तो नौकर कहता है बाबू जी परेशान न हो। आप आराम करो, आपके "मैं" का मै जिम्मेदार हूं। आपका "मैं" जरूर मिल जायेगा। उसे शांति हुई, उसने सोचा कि इस नौकरने कहीं देखा होगा, मिल जायेगा, पुराना नौकर है झूठ नहीं बोल सकता। सो पलंग पर लेट गया। थोड़ी देर बाद नौकर कहता है कि मालिक देखो आपका मैं मिल गया या नहीं ? तो पलंग पर ही तो टटोलना था। ज्यों ही ऊपर हाथ फेरा तो कहता है कि ओ, बस, मेरा 'मैं' मिल गया। तो जैसे वह अपनेको ढूँढ़नेके लिए पागलभरी चेष्टाएँ कर रहा था, उसको मैं का पता न था, उससे भी अधिक पागल ये संसारके व्यामोही जीव हैं। वह कमसे कम 'मैं' को ढूंढ़नेकी तलाशमें तो था, पर ये जीव तो उस 'मैं' की तलाशमें भी नहीं हैं।

मोहकी प्रकृति आकुलता— भैया ! इस आत्मभ्रांतिका फल क्या मिलता है कि परपदार्थोंको ही आत्मसर्वस्व मानकर, अज्ञान अंधकारमें रागद्वेष मोहसे पीड़ित होकर विकल्पोंमें जुटे चले जा रहे हैं। यह विक्षिप्त मन आत्माकी भ्रान्ति है। अपना कर्तव्य है कि इस भ्रांतिकी स्थितिसे हटें और अविक्षिप्त ज्ञानका आश्रय करें। कोई सार मिलता हो मोहमें तो किए जावो मोह, कुछ अधर्म नहीं है। शांतिके लिए ही तो सब कुछ करना है। यदि मोहमें वास्तविक शांति हो तो खुली घोषणा हो जावेगी कि खूब किए जावो मोह, किन्तु मोहमें शांति त्रिकाल नहीं हो सकती। चाहे अग्नि शीतल हो जाय, चाहे सूर्य पश्चिममें उग जाय, चाहे पत्थर पर कमल उगने लगें, चाहे बालूसे तेल निकलने लगे, पर यह कभी नहीं हो सकता कि मोह परिणामसे शांति प्राप्त हो। मोहका स्वभाव ही ऐसा है कि वह आकुलता को उत्पन्न करता हुआ ही उदित होता है।

पुण्यके उदयमें भी शान्तिका अभाव— इस लोकमें लोग पुण्यकी बहुत तारीफ करते हैं और पुण्यबन्धकी बड़ी आशा रखते हैं, पर जरा दृष्टि पसार कर तो देखो कि पुण्यके उदयमें कष्ट आया करता है या

आराम मिला करता है। देखो श्रीराम, सीता, श्रीकृष्ण, बलदेव, और भी अनेक उदाहरण हैं जिनके पुण्यका कोई ठिकाना न था। उसपुण्यमें मिला क्या? तो सारे जीवनके चरित्रको देख लो— कोई न कोई खटपट, विडम्बना, आपत्ति लगी ही रही। लो अब वनको जा रहे हैं, राज्य छोड़ दिया है; जङ्गलमें भी अनेक घटनाएं गुजर रही हैं, लो सीताहरण हो गया है, अब उसमे विह्वल हो गए हैं, अब युद्ध हुआ है, अब पुनः सीताको फिर वनमें छुड़वा दिया है; फिर बड़ा युद्ध लव और कुशसे हो रहा है, फिर सीताको घर ले आया गया तो अग्निकुण्डका हुकम सुना दिया। ओह! सारा जीवन देखो विपत्तियोंसे बिछा हुआ ही तो मिला। किसी महापुरुष को देख लो— पुण्यके उदय जिनके हुआ है उनको कितनी बाधाएं और विडम्बनाएं हुई हैं?

पुण्यसे विपत्तियां— फूलोंको देख लो। जङ्गलमें झाड़ियों पर नीलेफूल बहुत फूले रहते हैं, जिनमें गन्ध नहीं, जिनका आकार भी सुन्दर नही उन फूलोंको कौन तोड़ता? कोई छूता भी नही हैं, और गुलाब, बेला, चमेली, चम्पा इन फूलोंके तो जरा ज्यादा पुण्यका उदय है, सुन्दर भी लगते हैं, सुगन्धित भी हैं, सब मनुष्य चाहते हैं, तो क्या फल होता है? थोड़ा थोड़ा ही फूल पायें कि तोड़ लिए जाते हैं। जिनके पुण्यका उदय है उन्हे चैन नहीं मिलती और जिनके पापका उदय है उन्हें चैन नहीं मिलती।

हितनिर्वाचन— यह सारा संसार क्लेशसे भरा पूरा है। यहां किसी भी स्थितिका चुनाव मत करो कि मैं ऐसा बन जाऊं। हां आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमणकी स्थितिमें होने वाली जो शुद्ध ज्ञानदशा है उसका चुनाव करो। मुझे ऐसी ज्ञानस्थिति प्राप्त हो। यद्यपि हैं यह कठिन बात, किन्तु बार बार इस ज्ञानस्वरूपकी भावना करनेसे वह सुगम हो जाता है। अच्छा प्रश्न ही करते जावो? अब क्या बनना है, अब क्या करना है? अब क्या होगा? विद्या सीखेंगे, कलायें सीखेंगे, लखपति हो जायेंगे। फिर क्या होगा? इज्जत बढ़ जायगी। फिर क्या होगा? अरे! उस इज्जतको संभालनेके लिए रात दिन अशान्त रहना पड़ेगा। वृद्ध हो जायेंगे, मरण हो जायगा। फिर क्या होगा? वह फिर अगले भवसे सम्बन्धित बात है। कौनसी वस्तु यहां चाहने योग्य है? खूब निर्णय कर लो। कोई अणुमात्र भी मेरे हितके लिए साधक नहीं है। मेरा ही शुद्धज्ञान स्पष्ट सम्यग्ज्ञान ही आकुलताको और विडम्बनाको काट सकनेमें समर्थ है।

मोहीकी करुणापात्रता— किसी पागल पुरुषको देखकर आपको

कितनी दया आती है, हाय ! कितना संकट है, यह खुद अपनी सुधमें नहीं है, उस पर बड़ी करुणा आती है ना, और जो स्वयं ऐसा पागल बनता है कि खुदकी सुध नहीं है और परपदार्थोंमें अटपट छटनी कर डाली है, मोह बसा रक्खा है, ज्ञानका अवरोध कर दिया है ऐसी पगलाई पर भी तो कोई हसने वाला तो होगा, करुणा करने वाला तो होगा ? तत्त्वज्ञ पुरुष उस पर करुणा करता है।

बाहरमें कहां शरण ?— किसी बालकको कोई दूसरा कोई सताये, डराये। मानो दो वर्षका बालक है तो मांकी गोदमें बैठकर निर्भय हो जायगा। कोई ६, ८ वर्षका बालक है उसे कोई सतायेगा तो वह बापकी गोदमें जाकर निर्भय हो जायगा। पर यह तो बताओ कि संसारके ये अशरण हम आप सब प्राणी जन्म, मरण, रोग, शोक, दुःख, व्याधि, कल्पना, विकल्प, विडम्बनाओंसे ग्रस्त है, अब किसकी शरणमें जायें कि निर्भय हो जायें ? ढूंढो शरण। न घरमें शरण ठीक बैठती है, न परिवारकी शरण ठीक बैठती। कहां चलें ? बाजारमें जायें तो किसकी दुकान पर बैठ जायें ? अरे ! बिना स्वार्थके मुझे अपनाले और मुझे शरण दे दे, ऐसा कोई न मिलेगा। सोचो तो सभी अपने मनमें। अरे ! यहां कौन शरण देगा ? यहां तो सभी अशरण, असहाय, दीन, बराक, जन्म, मरणके दुःखको भोग रहे हैं। यहां किसी की शरणमें जाकर भीख मांगे ? खुद ही खुदके लिए शरण हैं।

परमार्थभूत त्यागसे शान्ति— भैया ! कितनी ही वेदनाएं हों, कितनी ही विपत्तियां बिछी हों, जहां आकिञ्चन्य स्वभाव ज्ञायकस्वभाव मात्र सबसे विविक्त अपने उस परिपूर्ण अन्तस्तत्त्वको, प्रभुको निरखा कि सारे संकट शान्त हो जायेंगे। हां ऐसी स्थिति उसे ही मिल सकेगी जो किसी भी यशकी, परके संयोगकी वाञ्छा न रखता हो। त्यागके बिना शान्ति नहीं हो सकती, और त्याग भी अन्तरमें हो ज्ञानात्मक। चाहे छोड़ नहीं दिया है घर, किन्तु भीतरमें तो देखो कि सब कुछ छोड़े हुए ही हैं। किसी भी परपदार्थसे यह जीव चिपका नहीं है, सब स्वतन्त्र हैं, जुदे हैं। बस ऐसी दृढ़ समझ आ जाय कि सब स्वतन्त्र हैं, जुदे हैं, इस ही समझमें त्याग भरा हुआ है, इस वास्तविक त्यागभावके बिना ही यह मन विक्षिप्त हो रहा है, उन्मत्त हो रहा है, बेहोश हो रहा है। खुद अपराधी होकर भी किसी दूसरेको पुकारना, और भगवान्को भी पुकारना अथवा लोकमें किसीकी शरण गहना, यह सब निर्जन बनमें रोनेकी तरह है। निर्जन बनमें दुःखी पुरुषकी चिल्लाहटको सुनने वाला कौन है ?

इसी प्रकार इस दुःखी संसारी प्राणीकी वेदनाकी चिल्लाहटको सुनने वाला कौन है ?

प्राणीका अनाथपना— एक बार एक राजा जङ्गलमें गया तो वहां देखा कि एक साधु जी जिन पर कपड़े भी नहीं हैं, खाने पीनेका साधन भी नहीं है, बस आसन मारकर आंखे मीचे हुए बैठे हैं। वह साधु कुछ छोटी उम्रका था, जो सतेज शान्त बैठा हुआ था। राजा बैठ गया। थोड़ी देर बाद जब साधुने आखें खोली तो राजा दया करके कहता है कि तुम कौन हो, क्यों इतना दुःख भोग रहे हो ? कोई भी नहीं है यहां। निर्जन स्थानमें तुम पड़े हुए हो, आप कौन हैं ? तो मुनि धीरेसे कहता है राजन् मैं अनाथ हूं। ओह ! मत घवड़ावो। मैं तुम्हारा नाथ हो गया हूं आजसे। चलो घर मौजसे रहो। साधुने पूछा, तुम कौन हो ? शका मत करो। मैं एक बड़ा राजा हूं, इतना परिवार है, इतना देश है, इतनी सम्पदा है। तुम्हें तकलीफ न होगी। तुम अब अनाथ बनकर न रहोगे, तुम मुझे बहुत सलौने लग रहे हो। वह मुनि कहता है इसमें क्या है, मैं भी तो ऐसा ही था। अब राजाकी दृष्टि फिरी और पूछा तो महाराज आप कौन हैं ? मुनि बोला कि "अमुक नगरके राजाका पुत्र हू।" अरे ! वह तो मुझसे भी बड़ा राजा है। इतने बड़े राजाके आप पुत्र हैं, फिर आप अपनेको अनाथ क्यों कह रहे हैं ? मुनि कहता है, सुनो "राजन् मेरे सिरमें बडे वेगसे दर्द हुआ, उस दर्दमें बहुतोंने सेवाएं कीं, डाक्टर बुलाए, औषधियां लाये पर उस समय मेरे सिरके दर्दका एक अंश भी बाटनेके लिए कोई समर्थ न था। तब से मुझे यह श्रद्धा हुई है कि मैं तो अनाथ हूं।"

शरणभूत अविक्षिप्त ज्ञातृत्वभावके आदरकी प्रेरणा— सो चलो भैया ! अब सबके सब, अपने ही शरीरमें बसे हुए अपनेको खोज लो कि सब अनाथ हैं कि नहीं। आपका कोई दूसरा नाथ भी है क्या ? आपकी स्त्री आपकी नाथ होगी क्या ? अरे ! जिस क्षण आयु पूर्ण होती है सबके बीच से तुरन्त चले जाते हैं। जब किसी तीव्र पापका उदय होताहै तो बहुत प्रीति करने वाले परिजन भी उसका साथ छोड़ देते हैं। ध्यानमें लावो क्यों थोड़ी देरके समागमको पाकर मस्त होते जा रहे हो ? मनके विक्षेप को दूर करें, अपने ज्ञानको अविक्षिप्त बनाएं। स्थिरता, अविक्षेप, स्वच्छता, उत्तम अभिप्राय इन सबको धारण करें, इस ही उपायसे मुक्ति, शांति निकट होगी अन्यथा इस जीवका दूसरा कोई शरण नहीं है।

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥ ३७ ॥

मनके विक्षेप और अविक्षेपका साधन— पूर्व श्लोकमें यह बताया गया था कि विक्षिप्त मन आत्माकी भ्रांति है, समस्त क्लेशोंका मूल कारण है और अविक्षिप्त मन आत्माका तत्त्व है। इस कथनके बाद यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि वह कौनसा उपाय है जिसके कारण मन विक्षेप को प्राप्त होता है और वे कौन से कारण हैं जिनके कारण मन अविक्षिप्त रहता है। इस ही जिज्ञासाका समाधान इस श्लोकमें दिया जा रहा है कि अविद्याके अभ्यासके संस्कारोंके द्वारा यह मन विक्षिप्त हो जाता है और यह ही मन ज्ञानके संस्कारके द्वारा आत्मतत्त्वमे अवस्थित हो जाता है।

जीवका भावपर ही अधिकार— भैया! यह जीव केवल भावना ही तो कर सकता है। यह अमूर्तआत्मा किसी पुद्गलको छू भी नहीं सकता, अन्य कुछ कार्य कर ही नहीं सकता, केवल भावना बनाता है। चाहे वह धन ही कमानेका प्रसंग हो, चाहें लड़नेका प्रसंग हो, चाहे धर्म का प्रसंग हो, चाहे कोईसा भी प्रसंग हो सर्वत्र यह जीव केवल अपने भाव ही कर पाता है। यह भावोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। जब यह भावना होगी और उस भावनाके बार बार होने से जो संस्कार बनेगा उसके अनुसार ही प्रवृत्ति होती है।

पुनः पुनः चिन्तनसे भावनाका निर्माण— एक कोई मनुष्य कहीं से बकरी लिए जा रहा था। चार ठगोंने देख लिया कि यह बड़ी सुन्दर बकरी है। इसको तो उड़ा लेना चाहिए। तब क्या उपाय है? उपायकी भी सलाह करली और उस सलाहके अनुसार वे चारो ठग एक एक दो दो मील की दूरी के अन्तर पर खड़े हो गए बड़ी जल्दी-जल्दी आगे जाकर। पहिला आदमी मिला तो वह कहता है—अरे भाई तुम बड़ा अच्छा कुत्ता लिए हो, यह कुत्ता बहुत ही बढ़िया है, सुनकर रह गया। आगे फिर एक मील बाद दूसरा आदमी बोलता है। यह कुत्ता तुम कहा से लाये? अब उसके कुछ मनमें आया कि यह कुत्ता ही तो नहीं है। एक मील बाद फिर एक आदमी मिला, बोला—यह कुत्ता कहां लिए-लिए फिर रहे हो? अब उसके मनमें आया कि यह कुत्ता ही होना चाहिए। अरे इतने आदमी मिलते हैं सभी झूठ तो नहीं बोलते हैं। अब चौथा आदमी मिला और कहा कि अरे यह कुत्ता कहां लटकाये जा रहे हो? तो उसने उसे कुत्ता जानकर वहीं छोड़ दिया। सोचा कि बड़ा धोखेबाज यह जानवर है। छोड़ कर चल दिया। वे तो चाहते ही थे। वे चारो ही उस बकरी को ले आये और अपने घरमें बांध लिया। अब बतलावो इतनी बड़ी बात कि बकरी कुत्ता मालूम पड़े, ऐसी भी बात हो गयी। तो अपनेमें जैसी भावना बार-

शरीर छुवा नहीं जाता है। ऐसे गंदे शरीरके भीतर अनेक मल भरे हुए हैं और आयुर्वेदका तो कहना है कि यदि पेटमें ३-४ सेर मल हमेशा न रहे तो यह मनुष्य जिन्दा नहीं रह सकता। आप शौच हो आये, शुद्ध हो आये तो आप जानते हैं कि पेट बिल्कुल साफ हो गया, किन्तु पेटमें अब भी तीन चार सेर मल भरा हुआ है। कहां है शुचिपना, किन्तु इस शरीरके शुचिपने की भावना बनाये रहना, यह मैं हूं, बड़ा सुन्दर हूं, बड़ा पवित्र हूं, ऐसी बारबार भावना करता है, यही है अविद्याका संस्कार।

अनित्य शरीरमें नित्यताकी भावनासे अविद्यासंस्कार— और भी देखो शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता है। इससे अनेक परमाणु निकलते हैं, अनेक आते हैं, यह नित्य नहीं है। यदि यह जीवशरीर नित्य होता तो आज इस दुनियामें जीव समाते कहां? मनुष्य कोई मरते नहीं तो समाते कहां? पृथ्वीपर रहने को भी स्थान न मिलता। मरने पर भी तो देशमें यह मांग है कि सख्या ज्यादा हो रही है, इसे रोको अन्यथा विप्लव हो जायेगा, लूटमार हो जायेगी। यह शरीर अनित्य है, किन्तु अपने आपमें सबको यह मालूम होता है कि मैं सदा रहूगा। कल का तो भरोसा नहीं कि कल भी आयु रहेगी या नहीं। अंदाजकी बात दूसरी है, पर बलपूर्वक कौन कह सकेगा कि हम कल भी टिकेंगे। यदि कह सकते हैं तो यह बलपूर्वक रोज कहेंगे, फिर इसका मरण ही नहीं है। इसीलिए आचार्योंका यह उपदेश है कि जब तक रोगसे नहीं घिरे, जब तक शरीरमें बल है तब तक हितके कार्य करलो। निर्द्वन्द्व निराकुल होकर आत्मज्ञान प्रकाशमें अनुभवका रसपान करलो। नियमसे यह संसारचक्र कट जायेगा। बार-बार यह मनुष्यभव मिलनेको नहीं है। संसारमें कितनी प्रकारके जीव हैं, कहां-कहां इस जीवका जन्म न हुआ हो? आज दुर्लभ नरभव पाया है और इसका सदुपयोग न किया तो क्या विश्वास कि कब हित कर सकेंगे? इस अनित्य शरीरको यह नित्य है, यह नित्य है—ऐसी भावना बनाए रहना इस ही का नाम अविद्याका संस्कार है।

भिन्न देहादिक पदार्थमें आत्मीयताकी भावनासे अविद्यासंस्कार— यह शरीर आत्मासे अत्यन्त भिन्न है, किन्तु मैं यह ही हूं, शरीरसे अतिरिक्त अन्य कुछ सद्भूत पदार्थ हूं ऐसी उसकी भावना ही नहीं बनती। यह अविद्याका ही तो संस्कार है। यह मेरा है, यह मेरा पोता है, यह मेरा बच्चा है, इनके लिए ही मेरी जान है, औरोंके लिए तो थोड़ी भी कृपाकी गुञ्जायश नहीं है। यह क्या है? यह अविद्याका संस्कार है। यह ही तो कठिन वेदना है, अत्यन्त मलिनता है। इस अविद्या सस्कारोंके द्वारा

अवश होकर यह विक्षिप्त होता हुआ यत्र तत्र दौड़ लगाता है, कहीं मन ही नहीं लगता। जितने पक्ष होते हैं, जितने लोभ होते हैं वे सब अविद्याके संस्कारसे ही तो होते हैं। मायामय पदार्थ ही परमार्थ जंचना और इन वैभव सम्पदावोंसे इतना गहरा लगाव रखना कि इससे ही मेरा जीवन है, सत्त्व है और उसकी ही अत्यन्त तृष्णा बनाना। तृष्णाके रंगमें, लोभके रंगमें गहरे रंगे रहना यह सब क्या है? यह अविद्याका ही तो संस्कार है।

अविद्यासस्कारसे विपत्तिया— भैया! अविद्याके संस्कारसे लाभ लूटोगे? यह मन विक्षिप्त रहेगा, डांवाडोल रहेगा, अस्थिर रहेगा, फिर अपने आपमे बसे हुए परम शरण कारणपरमात्मतत्त्वका दर्शन कैसे कर सकेंगे? अविद्याके सस्कारोंसे यह मन अवश होकर विक्षिप्त हो जाता है। पागलका मन कहीं टिकता तो नहीं है, थोड़ी देरमे कुछ बकता है, थोड़ी देरमे कुछ बकता है। ऐसे ही अज्ञानकी वासना जिसमे बसी हैं, सर्व पर-पदार्थोंसे भिन्न निज चित् स्वभावका जिन्हें परिचय नहीं होता, वे पागलों की भांति कभी इसे बटोरा, कभी उसे अपना माना, कभी उस ही को दुश्मनसा मानने लगे। ओह! जब छोटा बालक होता है तो एक बालक अपने छोटे भैयाका कितना प्रेम करता है? कोई उसे डांट दे तो यह भैया बड़ा पक्ष लेता है। कदाचित् बड़ा होने पर अज्ञानके कारण किसी बात पर मनमुटाव हो गया तो फिर वही कहने लगता है कि मै तो इसकी शक्ल भी नहीं देखना चाहता।

मायामयोंकी मायावशता— अरे भाई! किसीको वश करनेका जरासा तरीका है— प्रशंसा करदे, मीठा बोल दे, वश हो जायगा। ये छोटे लड़के लोग अपने बापसे पैसा लूट कर तंग करके मांगते हैं। उन बच्चोंके बुद्धि नहीं है। कोई बुद्धिमान् बच्चा हो तो एक जरासा ही तो मन्त्र है। जरा बापके आगे मीठा तुतला बोल दे, हाथ जोड़ दे और पैर छू ले, फिर तो चाहे बापकी मूंछ भी ले ले। किसीको वश करनेका कौनसा बड़ा कठिन काम है? जरा कषाय दूर कर ले जिससे कि उपाय करते बन सके। और फिर किसे क्या वश करना है? जैसे चारों ओरसे आने वाले मुसाफिर एक चौराहे पर थोड़ी देरको राम राम करनेके लिए मिल गये। दो चार सेकेण्डको ठहर भी गए तो आखिर बिछुड़ना तो पड़ता है, ऐसे ही चारों गतियोंसे कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे आया और इस घरके चौहट्टेमें मिल गये तो थोड़ी देरकी राम राम है, अन्तमें बिछोह होगा ही। फिर किस किससे अनुराग करें, किससे द्वेष करें? यह अविद्याका संस्कार इस जीवको प्रेरे डाल रहा है।

मोहियोंकी मोहमयी कल्पित व्यवस्था— यह मन उछला-उछला फिर रहा है, कहीं एक ठिकाने लग नहीं पाता, बावलेकी भांति, क्योंकि अपनी आत्मा अपनी दृष्टिमें नहीं है, सो जैसे बावलेका दिमाग सही नहीं है, वह नाना चेष्टाएं करता है। इस ही प्रकार जिसकी आत्मा अपने वशमें नहीं है, वह आत्मा नाना चेष्टाएं करती है। ओह ! यह मेरा है, यह पराया है। फल क्या होता है ? जसे कोई पागल सड़कके पास गांवके निकट बैठा हो, सड़कसे मोटर वाले, तांगे वाले गुजर रहे हों, वे प्यासे हों और मोटर तांगा खड़ा करके कुवे पर पानी पीने लगें। अब वह पागल मानता है कि यह मेरी मोटर है, यह मेरा तांगा है। वे तो पानी पीकर मोटर तांगोंमें बैठकर चल देंगे, अब वह पागल माथा धुनेगा, हाय ! मेरी मोटर चली गयी। यों ही ये संसारके दीवाने पागल उन्मत्त मोही प्राणी जिस चाहे चीज को जो निकट आयी हो, घरमें हो उसे अपनी मान लेते हैं। चूंकि सब मोही मोही हैं ना, तो इस मोहमें मोहकी व्यवस्था बना डाली कि यह मेरा घर है, इसे दूसरा कोई नहीं छीन सकता, यह हमारी जायदाद है, कोई दूसरा नहीं ले सकता। जीव सब मोही हैं इसलिए स्वरूप विरुद्ध व्यवस्था बना डाली गयी, पर यह व्यवस्था कहा तक काम देगी ? आखिर सब छोड़कर ही जाना होगा।

मोहमदकी चेष्टायें— ये ससारी, मोही, उन्मत्त जो कुछ मिला है उसे यह मान लेते हैं कि यह मेरा है। अब वे परपदार्थ अपनी परिणतिके अनुसार जितने दिन निकट रहते हैं रहेंगे, बादमें बिछुड़ जायेंगे। सो बिछुड़ते हुएमें क्लेश मानते हैं। स्नेह करनेका फल बुरा है क्योंकि जिस किसीसे भी स्नेह करें, आखिर वे बिछुड़ेंगे तो जरूर। सदा निकट रहेंगे ही नहीं। तो जब बिछुड़ेंगे तब असह्य क्लेश भोगना पड़ेगा। कैसे अज्ञान अंधेरेमें पड़े हुए ये जगत्के जीव दुःखी हो रहे हैं ? जैसे जंगलमें आग लग गयी हो और मनुष्य किसी पेड़ पर चढ़ जाय और चारों ओर देखा करे ओह ! वहे आग लगी, देखो वह कैसा हिरण मरा, देखो वह खरगोश कैसा मर गया, चारों ओर विपत्तिया देख रहा हैं, पर खुदको यह खबर नहीं है कि वह आग इस रूखको भी भस्म कर देगी। मेरा कहा पता रहेगा ? जगत् में सर्वत्र विपत्तियां दिख रही हैं, ओह ! यह कैसा हो रहा है, दूसरोंकी विपत्तियोंको देखकर प्रसन्न हो रहे हैं, पर यह पता नहीं कि हम स्वयं विपत्तियोंके बीच घिरे पड़े हैं, कैसा क्षिप्त मन है कि पागलपन सवार है ? यही मन जब ज्ञानसंस्कारसे संस्कृत हो जाता है तो आत्मतत्त्वमें ठहर जाता है।

मोहमदके अभावमें स्वरूपकी अवस्थितता— एक बार दतियाका राजा सैर करने चला। हाथी पर सवार हुए जा रहा था। तो एक गांवके निकट कोई कोढ़ी शराबके नशेमें पड़ा था। वह कोढ़ी बोलता है ओवे रजुवा ! यह हाथी बेचेगा। राजाको उसकी बात सुनकर बड़ा गुस्सा आया, सोचा कि मेरी ही प्रजाका आदमी और ओवे रजुवा बोलता है और हाथी खरीदेगा। जब क्रोध आ गया तो मन्त्री कहता है, "राजन् क्रोध मत करो, ५-६ घन्टे बाद इसे दरबारमें बुलायेंगे और वहां इसका निर्णय करेंगे।" उसका नाम पता पूछा जाच कर सब लिख लिया था। ५-६ घंटे के बाद उसे दरबारमें बुलाया, उसका सारा नशा अब दूर हो चुका था। कोढ़ी सोचता है कि आज हम पर क्या आफत आयी है ? अभी तक तो हमें राजदरबारमें कभी नहीं बुलाया गया, सो वह डरते डरते राजदरबारमें गया। राजा पूछता है— क्यों भाई ! मेरा हाथी खरीदोगे ? उसे क्या पता था ? वह कहता है महाराज आप कैसी बात कर रहे हैं। राजा ने कहा, नहीं नहीं मेरा हाथी खरीदोगे क्या ? तो कोढ़ी कहता है— महाराज आप होशमें बातें नहीं कह रहे हैं क्या ? अरे ! हम गरीब आदमी आपका हाथी कैसे खरीद सकते हैं ? तो मन्त्री कहता है, "राजन् आपका हाथी यह नहीं खरीद रहा था, वह कोई दूसरा था। यह नहीं है। वह था नशा, जो आपका हाथी खरीद रहा था।" सो जब यह मोहका नशा चढ़ जाता है तो यह पागल बना फिरता है और जब मोहमद उतर जाता है तब मन ज्ञानसंस्कारके कारण आत्मतत्त्वमें उपस्थित हो जाता है।

ज्ञानसंस्कार— वह ज्ञानसंस्कार क्या है ? इसे संक्षेपमें यों जानो कि कोई पहिले अपने आपमें बार-बार भावना करे कि मैं ज्ञानमात्र हूं, मैं केवल ज्ञानका ही काम कर सकता हूं, ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ मैं कर नहीं सकता। यह आत्मा आकाशवत निर्लेप अमूर्त ज्ञानमात्र है, यह तो किसी पुद्गलसे छुवा भी नहीं जा सकता है। वर्तमानमें यह शरीरसे बंधा हुआ है, पर रस्सीकी गांठकी तरह शरीरसे नहीं बंधा हुआ है, क्योंकि मैं शरीरको छू भी नहीं सकता, किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बंध कारण स्वयं ऐसा बंधा हुआ हूं, मैं तो ज्ञानमात्र हूं, ऐसी पुनः पुनः भावनासे ज्ञानसंस्कार हो जाता है।

भावबन्धनकी मुक्तिके लिये ज्ञानभावनाकी समर्थता— जैसे आप को अपने किसी पुत्र या स्त्रीसे अधिक प्रीति हो तो क्या आपका शरीर मेरा शरीर रस्सी की भांति बन्ध गया है ? अरे ! आप अलग हैं, दूसरे आपसे अलग हैं, किन्तु आप ही खुद अपनी भावनाएं बनाकर खुद ही मूढ़

होकर, मोही होकर अपने आपके भावोंके बन्धनसे बन्धे हुए हैं कि एक दिन भी स्वतन्त्र होकर आप कहीं भी विचर नहीं कर सकते। यों ही जानिये कि इस शरीरके साथ आत्माका एकक्षेत्रावगाहरूप बन्धन तो है पर इस बन्धनकी मजबूती निमित्तनैमित्तिक भावोंके कारण है, कुछ परस्परके मेलजोलके कारण नहीं हैं। तब यह सब बन्धन ज्ञानभावनासे ही छूटेगा। इसके लिए अहर्निश सत्संग हो, स्वाध्याय हो और अपने आपमें मैं ज्ञानमात्र हूं, देहसे भी न्यारा हूं, सर्व परपदार्थोंसे जुदा, यह मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ऐसा अनुभव प्रकाश आ जायगा, फिर इस ज्ञानानुभवके प्रकाशके कारण कोई संकट न रहेगा। सो अपने मनको ज्ञानसंस्कारके द्वारा शुद्ध बनावें, यथार्थ प्रतीतिरूप कार्य करें तो आत्मतत्त्वमें हम ठहर जायेंगे और सदाके लिए संकटोंसे मुक्त हो जायेंगे।

अविद्यासंस्कार और चित्तविक्षेप— अपवित्र देहमें पवित्रताका ध्यान रखना, अनित्य शरीरमें नित्यताकी प्रतीति रखना, भिन्न वैभवादिकमें आत्मीयताका आशय रखना ये सब अविद्याके संस्कार हैं। इन संस्कारोंके कारण विवश होकर इस मनको विक्षिप्त होना पड़ता है। जब खुदको खुदके घरमें नहीं रहने दिया तो फिर परघरमें इसे कहां स्थायित्व मिल सकता है? घरसे तो यह भागा भागा फिरा करेगा। तो अविद्याके परिणामोंमें इस जीवकी ऐसी आकुल दशा हो रही है। वह ही मन जब ज्ञानसंस्कारसे संस्कृत हो जाता है तो फिर यह मन स्वतः ही अपने आप अपने आपमें स्थित हो जाता है। अविद्याका संताप और आनन्दका प्रताप बता कर अब उसके फलमें यह बता रहे हैं कि विक्षिप्त मनमें क्या विपत्तियां आती हैं और अविक्षिप्त मनमें विपत्तियोंका कैसे विलय होता है?

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः॥ ३८॥

मनुष्योंके मानकषायकी प्रमुखताकी प्रकृति— जिस जीवके चित्तका विक्षेप है अर्थात् आत्मस्वरूपको आत्मस्वरूप न मानकर अन्य पदार्थोंमें अपना ज्ञान और आनन्द ढूंढते हैं अर्थात् परको आत्मा और अनात्मा मानते हैं ऐसे ही सम्मान और अपमानके विकल्प होते हैं। गतियां चार होती हैं— नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। नरकगतिके जीवोंमें क्रोध कषायकी मुख्यता है और वे अपना मन शान्त करने के लिए दूसरे नारकियों पर टूट पड़ते हैं। जैसे कि होलीके अवसर पर अच्छे नये साफ धुले सफेद कपड़े पहिने हुए बाबूजीको देखकर हुड़दंगोंकी टोली टूट पड़ती है और हरा, लाल, नीला आदि रंगोंको गुलालों को डाल

कर अपना मन खुश करते हैं इससे भी बड़ी बुरी दशा नारकोंमे है। आया कोई नारकी उसको देखते ही नारकी एकदम इस पर टूट पड़ते हैं। वहां क्रोधका भाव मुख्य रहता है। तिर्यञ्चगतिमे मायाका भाव मुख्य रहता है, देवगतिमे लोभका भाव मुख्य रहता है और मनुष्य गतिमे मान का भाव मुख्य रहना है।

वैभवलोभकी मानकषायकी पुष्टिकी प्रयोजकता— भैया ! कुछ सुनने मे ऐसा लगता होगा कि मनुष्योंमे तो लोभकी मुख्यता मालूम होती है, किन्तु मनुष्य लोभ भी मान रखनेके लिए करते हैं। वे जानते हैं कि धन अधिक जुड़ जायेगा तो मेरी इज्जत बढ जायेगी। लोग यह समझेंगे कि यह बहुत बड़ा आदमी है। लोभीको यह ध्यान नहीं रहता कि शायद लोग मुझसे घृणा भी करेंगे कि यह इतना धनी होकर भी मक्खीचूस बना हुआ है, इसका पता उस लोभीको नहीं होता किन्तु उसकी तो धुनि यह रहती है कि धन इकट्ठा हो जाय तो बहुत बढ जाने पर मेरा सम्मान बढ़ जायेगा। तो लोभ भी मनुष्य अपना मान रखने के लिए करते है। यहीं देख लो जरा सी प्रतिकूल बात आने पर मन शान रखनेके लिए कितना तड़फता है ?

विक्षेप और अविक्षेपका परिणाम— जिसके चित्तमें विक्षेप हो गया है अर्थात् जिसका मन फिंक गया है। क्षेप, विक्षेप, निक्षेप सबका अर्थ है फेक देना, बाहर कर देना, दूर डाल देना। जिसने अपने मनको दूर डाल दिया, फेक दिया, बाहर कर दिया, अपने आत्मासे विमुख कर दिया, उसको तो बाहरमे सार नजर आयेगा; ऐसे धनी बनें, ऐसा महल बने, ऐसा आराम ठाठ हो, इस प्रकारके परिणाम होगे। तब विक्षेप हो गया ना, बाह्यपदार्थोंमें ही यह मन चला गया। अब वह जरा-जरा सी बातमें मान और अपमान महसूस करने लगता है, किन्तु जिसके चित्तका क्षेप नही हुआ है, बाहर नही फिका है, अपने ही घरमे रह रहा है, अपने स्वरूपके उन्मुख है, अपने ज्ञानानन्दस्वभावीपरसे न्यारा एकाकी आत्मतत्त्व की प्रतीतिमें है उसको अपमानादिक नहीं होते हैं।

ज्ञानीकी गम्भीरता— ज्ञानी ही गम्भीर हो सकता है। सम्मान होने पर भी अपने आपका सम्मान न समझे और अपमान होने पर भी अपने आपका अपमान न समझे ऐसी गम्भीरता ज्ञानी सत्पुरुषमे ही हो सकती है। कैसा वह अद्भुत ज्ञानप्रकाश है जिस प्रकाशमे सब कुछ ज्ञात होता है, किन्तु किसी भी वस्तुमे राग और द्वेष नही होता है, कितना महान् प्रकाश है वह ? वह तो दुनियासे न्यारा एक महा सत्पुरुष है। कुछ

कुछ तो दिखता भी है गृहस्थोंमें भी और साधुजनोंमें भी। कचित् २ कि कितनी भी बातें हो रही हों कि जिनको सुनकर अन्य लोग विह्वल हो सकें, किन्तु वे विह्वल नहीं होते। जिसने अपने आपके स्वरूपका भान कर लिया उसके लिए ये सब बातें सुगम रहती हैं।

मानभंगका लाभ— क्यों जी, कोई यदि मेरा मान भंग कर दे तो क्या किया उसने ? मानका नाश कर दिया। बड़ा अच्छा हुआ। बड़े-बड़े सत्पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभके नाश करने के लिए बड़ा उद्यम करते हैं। कोई हो तो लाडला ललन ऐसा कि मेरे मानका नाश कर दे। हम उस का बड़ा उपकार मानेंगे। फिर मुझे तीन ही कषाय दूर करने को रह जायेंगी। मेरा मान तो एक दयालु पुरुषने भग कर दिया ना। हाय, पर होता कहा है ऐसा ? अच्छा, मान भंग कर दिया कि मान और बढ़ जाता है दूसरा कोई प्रतिकूल प्रवर्तन करे तो ? मान कषाय तो और प्रबल हो जाता है। कहा अपमान और सम्मानके विकल्प उठते हैं, वे तो सब अज्ञान अंधकारमे मोहकी नींदकी कल्पनामें होने वाली बातें हैं।

सबसे बड़ी समस्या— इस मान अपमान रूप विपत्तिका कारण चित्तके विक्षेपको जानकर हम प्रयत्न यह करें कि मेरा चित्त मेरी शरणसे अलग न हो। यह बात की जानेकी है, न केवल कहने की, न केवल सुनने की। इस उपायसे जो जितने अशमें अपने स्वरूपकी निकटता पा लेता है वह कृतार्थ हो जाता है। मान लो आज जीवनकी बड़ी समस्याएँ हैं। आयकी व्यवस्था नहीं, महगाई बहुत बढ रही है, और-और भी परेशानियां हैं। तो कितनी भी परेशानियां हों, इससे भी कुछ ज्यादा परेशानी हो तो भी सर्वत्र परिस्थितियोंमें आत्मस्वरूपका स्मरण, ज्ञान यहां स्थगन करने के योग्य नहीं है। ये समस्याएँ कुछ बड़ी समस्याये नहीं हैं जितनी कि जीवनमें बड़ी कठिन समस्याएँ सामने आयी हैं। हालाकि जब देश समाज पब्लिकके बीचमें रहते हैं तो ये समस्याये बहुत ऊची मालूम होती हैं, लेकिन ये समस्याएं इतनी बड़ी नहीं हैं कि जितनी बड़ी समस्याएं अपने आपसे विमुख होकर बाह्यकी ओर दृष्टि लगाकर, मोह रागद्वेषका परिणाम बनाकर अपने परमात्मतत्त्वसे दूर हुए जा रहे हैं, ये हैं जिनके फलमें अनन्त ससार भ्रमण करना पडेगा। यह समस्या है सबसे बड़ी।

अहितपूर्ण बड़ी समस्यामें अन्य सर्वसमस्यावोंकी विलीनता— देखो भैया ! विपत्तिको- समस्याएँ उससे बड़ी विपत्तिकी समस्याएँ सामने आ जाये तो दूर हो जाती हैं। कोई छोटी विपदा है, इससे बड़ी विपदा सामने नजर आये तो छोटी विपदा दूर हो जाती है। उसको मनमें स्थान

नहीं दिया जाता है। तो जिसको तुमने बड़ी विपदा समझ रक्खी हो, जिससे रात दिन परेशान रहा करते हों, उससे बड़ी विपदा और है, उस पर दृष्टि दें तो यह विपदा भी दूर हो जाएगी अर्थात् उसे आप फिर बड़ी विपदा न मानेंगे। यहां कौनसी बड़ी समस्या है? यह अमूर्त आत्मा इस अशुचि शरीरमें पड़ा है, यह क्या कम समस्या है? आकाशवत् अमूर्त-निर्लेप अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र परमात्मतत्त्व देहके बन्धनमें पड़ा है, कर्मोंके बन्धनमें ग्रस्त है, जन्ममरणके चक्करोंमें लगा है, यह क्या छोटी समस्या है? अचानक ही काल आ गया, गुजर गए तो महंगाई आदिककी समस्यायें फिर सब खत्म हैं। जहां जन्म लिया, वहां की समस्या इसके सामने आ जायेंगी।

अपना मुख्य काम— इस अध्यात्म क्षेत्रमें देखो तो सही कि कौनसे संकट, कौनसी बड़ी समस्या हमारे सामने है, जिसको दूर करनेका और सुलझानेका काम मुख्य पड़ा हुआ है? कितना काम पड़ा हुआ है? संसार के सारे काम एकत्रित किए जायें, उनसे भी अधिक मुख्य काम यह पड़ा है कि अपने आपको अज्ञान, रागद्वेष, मोह और विकल्पजालोंके संकटसे छुटा लेना। इस संकटकी मुक्तिमें अणुमात्र भी परपदार्थोंकी अपेक्षा नहीं है। इतना धन हो, तब हो हम धर्म पाल सकते हैं—ऐसी अपेक्षा इस धर्म-पालनमें नहीं है, किन्तु बाह्यवैभवमें रंगे हों, तृष्णा बनी हो, कृपणता हो, कुछ खर्च करनेका परिणाम न हो, संचयका भाव लगा हो तो ऐसी स्थिति में धर्मपालन नहीं होता। उसकी योग्यता चाहिये, इतना साहस चाहिए कि यह मान सकें कि मेरा मेरे आत्मतत्त्वके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। यह सब तो धूल है। कैसे मस्त हुए जा रहे हैं—यह निर्णय नहीं आ सकता तो धर्मपालनका अधिकार न मिलेगा।

अनाकांक्षता और उदारताकी आवश्यकता— यद्यपि धर्मपालनमें एक पैसे की भी अपेक्षा नहीं है। धर्म पैसेसे नहीं होता, पर पैसेके लगावसे अधर्म तो होता है ना। तो उस अधर्मको दूर करने का हमारा बहुत बड़ा काम है, वह है उदारवृत्ति, जिससे हम धर्म पालनेके पात्र हो सकें। चित्तके विक्षेपको दूर करनेका काम पड़ा है। फिर तो ज्ञानसंस्कार हुआ कि स्वतः ही आत्मतत्त्वमें आत्माका अवस्थान हो जाएगा। सारे क्लेश एक ममताके हैं, मायामयी दुनियामें मायामयी पोजीशनके रखनेका क्लेश है। दूसरा कुछ क्लेश है ही नहीं। न होता आज इतना वैभव, साधारण होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था? यहां जितना लोकमें बड़प्पन बढ़ जाता है, उतना ही पोजीशन रखनेकी तृष्णा बढ़ जाती है। हुआ कहां धर्म? जैसे किसी

महान् कार्यमें धनका दान करके, तपस्या करके अथवा तनसे परकी सेवा करके और कुछ यशका भाव रक्खा तो वहां संन्यास कहां हुआ ? प्रभुका प्यारा वही हो सकता है जो कि अपने सम्बन्धमें इस मायामय जगत्में कुछ न चाहे और निश्छल शुद्धभावोंसे परकी प्रभुता पर मोहित हो जाये अर्थात् अनुरक्त हो जाये और अपनेको कुछ न मानें और अपनेको स्वतंत्र और सर्वस्व माने। इस जगत्में कुछ चाहने वाले के हाथ कुछ भी तो नहीं लगता है।

कुछकी कांक्षामें कलङ्क— एक नाईने सेठजी की हजामत बनाई। सेठ बड़ा डरपोक था। जैसे ही हजामत करते हुएमें छूरा ठोडीके पास पहुंचा कि सेठ डरा और नाईसे कहा कि देखो बढ़िया बाल बनाना, हम तुम्हें कुछ देंगे। जब हजामत बन चुकी तो सेठजी एक चवन्नी देने लगे। नाईने कहा कि हम तो कुछ लेंगे, आपने कुछ देनेका वायदा किया था। सेठजी रुपया देने लगे, मोहर देने लगे। नाईने न लिया। बोला हम तो कुछ लेंगे। क्या आफत पड़ गयी— ऐसी चिन्ता करके सेठ थक गया। अब सेठको कुछ प्यास लगी। सेठने नाईसे आलेमें रखे हुए दूधका गिलास मंगाया ताकि प्यास बुझालें, फिर कुछ दें। उसने जैसे ही गिलास उठाया, वैसे ही देखा कि इसमें कुछ पड़ा है। नाई बोल उठा कि सेठजी इसमें कुछ पड़ा है। सेठजी ने कहा कि क्या कुछ पड़ा है ? बोला हां। अरे तो अपना कुछ तू उठाले। तू कुछ की ही टेकमें तो अड़ा था। उसने कुछ उठाया तो उसे क्या मिला ? कोयला मिला। तो कुछकी अड़ करनेमें कोयला ही तो उस नाईके हाथ लगा। इसी प्रकार यह सच जानों कि इस आत्मतत्त्वके अतिरिक्त बाह्यपदार्थोंमें कुछ चाहा तो केवल पाप कलक ही तो हाथ रहता है।

भावनामें कृपणता क्यों ?— भैया सब कुछ यहीं पड़ा रहता है, कुछ भी साथ न जाएगा। यह जीव केवल परिणाम ही तो करता है। इस परिणामसे ही इसे आत्मसंतोष मिल सकता है और परिणामसे ही इसे खेद प्राप्त होता है। कोई भी परपदार्थ इसमें हर्ष विषाद नहीं लाता, किन्तु यह अपनी कल्पनासे ही हर्ष विषाद उत्पन्न करता है। जैसे किसी पुरुषके आगे एक खलका व एक चिंतामणि (रत्न) का टुकड़ा रख दिया और उससे कहा कि तू इनमेंसे जो मांगना हो मांग, जो मांगेगा वही मिल जाएगा। और यदि वह मांगे खलका टुकड़ा तो उससे बढ़कर बेवकूफी और क्या होगी ? यह बात तो जल्दी समझमें आ जाती है और ऐसी ही बात तो यहां है कि जीवको केवल भावोंसे ही आनन्द उपभोग होता है और भावोंसे

ही दुःख उपयोग होता है तथा भावोंसे ही सुख उपभोग होता है। तो हे आत्मन् केवल भावनाके ही प्रसादसे तुझे अनन्त क्लेश भी मिल सकते हैं और अनन्त आनन्द भी मिल सकता है। अब बोल तुझे इनमें से क्या चाहिए और यह चाल चले क्लेशकी ही तो इससे और अधिक व्यामोह क्या कहला सकता है ?

परमशरणकी निकटता— जब कोई बड़ा क्लेश होता है तो जैसे किसी मित्रको या रिश्तेदारको या कुटुम्बके पुरुषको अपने आपका जिसे शरण मानता है उसके निकट पहुंचता है, उसको छूकर रहता है, उसकी गोदमें सिर रख देता है तो संसारकी महान् विपत्तियोंमें व्यापन्न इस जीव की वडे क्लेश है। यह जहां जाता है वही क्लेश हैं। जिसे हर्षका साधन कुटुम्ब समझा है उसके बीच रहता है, वहांके और ढंगके क्लेश हैं, सोसाइटी संभामें बैठते हैं तो यहां और ढगके क्लेश हैं और जन्म-मरणके क्लेशका तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। ऐसे इन अनन्त क्लेशोंसे ग्रस्त इस प्राणीको कोई शांति सत्पथ आनन्दमार्ग दिखाने का कारण है तो वह है प्रभुका दर्शन और आत्मस्वरूपका दर्शन। तब ऐसा ही यहां क्यों न किया जाय कि हम अपने प्रभुके बहुत निकट पहुचे। वह प्रभु अनन्त ज्ञानी है, सर्वविभावोंसे दूर है, ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र है और इसही प्रसंगमे क्यो न अपने आत्मस्वरूपके निकट हम पहुंचे और बारबार इस ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया करें ?

अन्तिम चिकित्साका आदर— भैया ! शांतिके लिए बहुत प्रकारके परिश्रम कर डाले। जरा एक परमविश्रामरूप आत्मव्यवस्था भी तो करके देखलें। जब कोई मरीज १०—१२ डाक्टरोंसे इलाज करा चुका है और तमाम पैसा बरबाद कर चुका है, फायदा भी कुछ नहीं हुआ। झक मार कर अपने ही छोटेसे गांवमें लौटकर आ गया और वहां कोई देहाती साधु अथवा कोई फक्कड़ फकीर यह कहे कि यह रोग तो मिटा देना मेरी चुटकीका खेल है, तो वह सोचता है कि आखिरी दाव क्यों न देख लिया जाय ? देख लेता है और कहो उससे ही दुःख दूर हो जाता है। बहुत दूर घूम आये पर बहुत सस्ता सुलभ घरका ही कोई, गांवका ही उस दुःखको दूर कर देता है।

चरम शरणका आदर— यों ही यह आकुलताका मरीज सब पदार्थों के पास घूम आया मुझे शांति मिलेगी, अशांति मिटेगी, पचेन्द्रियके विषयोंसे बहुत प्रार्थना भी की, बढ़े भी विषयोंकी ओर, चित्त भी विषय साधनोंमें बसाये रहा, यही तो उनकी पूजा है। बहुत-बहुत उनकी शरण

रही, पर कहीं शांति न मिली। तो झक मारकर थोड़ा कुछ अपने घरमें बैठना है--अन्तर्ध्वनि होती है कि जरा एक दाव इसका भी तो देखलें, अपने आपके प्रभुस्वरूपसे कुछ ज्ञानकी नजर तो मिला लें, ज्ञानयोग स्वरूप स्मरणको कर लें, सब ओरसे उपयोगको हटा दें, एक अनन्य शरण होकर, किसी परवस्तुका रंचमात्र भी आदर न रखकर स्वरूपमें घुल मिल कर थोड़ा प्राकृतिक, सुगम, स्वाधीन आनन्द तो प्राप्त कर लें। बहुतसे काम तो कर डाले शांतिके अर्थ, अब अंतिम दाव तो करके देखलें। समस्त विकल्पोंको छोड़ें अपने आपके स्वरूपका स्पर्श करें, फिर शांतिके योग से युक्त हो जाये। तो घूम आया यह सब जगह, अंतमें शरण मिली इसे अपने आपके ही अन्दर। तो ऐसा ही काम क्यों न कर लिया जाय जिससे कि चित्तका विक्षेप मिट जाये।

स्वरूपके यथार्थ ज्ञानमें विक्षेपका अभाव--मान और अपमान क्या है? जो कोई पर-आत्मा जो कुछ चेष्टा करता है वह अपनी कषायके अनुकूल चेष्टा करता है। हमारा कुछ नहीं करता है। धीरता हो, गम्भीरता हो, ज्ञानप्रकाश हो तो मौज लेते हुए जरा निरखते जावो अपने आप को। इस जगतकी चेष्टासे अपने आपको विक्षिप्त मत करो, चित्तके अविक्षेपमें अपमान आदिक हो जाते हैं इसलिए हर सम्भव प्रयत्नोंसे चित्त का विक्षेप मिटावो और अपने आपके स्वरूपकी उपासनामें रहो तो सारे संकट स्वयमेव ही दूर हो जायेंगे।

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥

रागद्वेष के शमनका यत्न--सर्व क्लेशोंका मूल रागद्वेष परिणाम है। चित्त विक्षिप्त हो जाता है तो उसका भी कारण रागद्वेष परिणाम है। जन्म मरणके भार सहे जा रहे हैं, उसका भी कारण रागद्वेष परिणाम है। जिन्हें कल्याणकी चाह हो, सुखकी वाञ्छा हो, हितकी वाञ्छा हो उनका यह एकमात्र कर्तव्य है कि रागद्वेष भाव दूर करें। ये रागद्वेष भाव कैसे दूर हो सकते हैं? इसके समाधानमें यह श्लोक कहा जा रहा है। तपस्वी पुरुषोंके जब कभी मोहवश राग और द्वेष उत्पन्न होता हो तो उनको अपने आपमें स्थित कारणपरमात्मतत्त्वकी भावना करनी चाहिए। इस उपायसे क्षण मात्रमें ये राग और द्वेषभाव शांत हो जाते हैं।

रागद्वेषमें आकुलता--भैया! जगत्में एक आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई परमाणुमात्रभी ऐसा पदार्थ, तत्त्व नहीं है जो इस मुझ जीवको वास्तविक आनन्दका कारण होवे। मोहके मदमें लौकिक सुख और

आराम हर्ष भोगा जा रहा हो तो वहां भी आकुलता है और विपदा भोगी जा रही हो तो वहां भी आकुलता है। रागद्वेष यदि है तो उसके परिणाम में नियमसे आकुलता ही है। कोई भी राग अनाकुलता या सत्य आनन्द को उत्पन्न करने वाला नही होता है और द्वेष तो आनन्दको उत्पन्न करने वाला है ही नहीं। जीव रागवश होकर आनन्दकी प्राप्ति करने के लिए राग करनेका ही उपाय किया करते हैं, और द्वेषी पुरुष द्वेषसे उत्पन्न हुई आकुलता को दूर करनेके लिए द्वेषका ही उपाय किया करते हैं।

द्वेषकी बेचैनीकी एक घटना— कुछ वर्षों पहिले कहीं एक कोई ऐसी घटना हो गयी कि पड़ौसकी किसी स्त्रीके लड़केसे दूसरे पड़ौसके लड़केसे झगड़ा हो गया और झगडेमें एक लड़के की मा ने दूसरे लड़के को पीट दिया, तो जिस लड़केको पीटा उसकी मा को इतना क्रोध आया कि खाना भी न सुहाये। उसका संकल्प हो गया कि मुझे तब चैन होगी जब उस लड़के को जानसे खत्म कर दूंगी। उस बेचैनीमे उसने तीन दिन तक भोजन भी नहीं किया। उससे खाया ही न जाये, इतना तीव्र क्रोध चढ़ आया कि वह वही अपनी धुन रक्खे थी। आखिर चौथे दिन उसे मौका मिला, कोई मिठाईका लोभ देकर उस लड़के को बुलाया और एकांत पाकर उसके प्राण ले लिए और वहीं अपने घरमें ही कहीं गड्ढा खोदकर गाड़ दिया। वह लड़का एक बड़े आदमी का था। बड़ा हुड़दंगा मचा। आखिर खुफिया पुलिसने किसी प्रकार पता लगा लिया और उस हत्यारिनको गिरफ्तार किया। जब जजने पूछा कि तू ने इस लड़के को क्यों मार डाला? तो उसने जवाब दिया कि इसने बेकसूर मेरे लड़के को थप्पड़ मारा था और इसने ही अपनी मां से हमारे लड़के को पिटवाया था। ऐसी दशा देखकर मेरे मनमें यह संकल्प हो गया कि इस लड़केको जानसे खतम करना ही है और इस धुनमे मैंने तीन दिन तक खाना नहीं खाया, भोजनके लिए हाथ ही न उठे, यही धुन बनी रहे जब लड़के को मार डाला तब चैन पड़ी। फिर उसे दण्ड मिला। क्या हुआ आगे पता नहीं, पर यहां देखो कि जब द्वेषकी क्रूर वेदना उत्पन्न हो जाती है तो उस वेदनाको शांत करने के लिए उसने द्वेषको ही बढाया और द्वेष करके अपनी वेदनाको शांत किया।

रागद्वेषके कर्षणमें मन्थन— राग और द्वेष इन दो रस्सियोंके बीच मथानी की तरह यह जीव फिर रहा है। जैसे दही बिलोनेकी मथानी जो रस्सीमें लिपटायी जाती है उस रस्सीके उन दोनो छोरोके आवागमन की रगड़से मथनीका क्या हाल हो रहा है, इसी तरह यह जीव राग और

द्वेषकी दो डोरियोंमें फंसा हुआ, मायाचारमें पड़ा हुआ इस जगत्में चक्र काट रहा है। कहीं भी तो चैन नहीं है। गरीब सोचते हैं कि धनी बड़े सुखी होंगे, पर धनियोंका हाल धनी जानते हैं। धनी सोचते होंगे कि गरीब बड़े सुखी होंगे, उन्हें कोई चिंता नहीं, पर गरीबोंकी हालत गरीब ही जानते हैं। कुछ मिल जाय, कैसा ही समागम मिले, यदि ज्ञान नहीं है, विवेक नहीं है तो सुख और शांति हो ही नहीं सकती। सुख व शांति धनकी देन नहीं है किन्तु विवेककी देन है, ज्ञानकी देन है।

रागद्वेषके शमनके उपायकी आवश्यकता— देखो रागद्वेष तपस्वीजनोंको भी सता रहे हैं, साधुवोंको, गुरुवोंको भी सता रहे हैं। यदि रागद्वेष उन्हें न सताते होते तो ध्यान तपस्या, साधनाकी उन्हें क्या जरूरत थी? वे ध्यान, साधना इसीलिए करते हैं कि जो रागद्वेष उन्हें सता रहे हैं, उन रागद्वेषोंका विनाश करने के लिए उनका यह उद्यम है। यह ग्रन्थ तपस्वीजनोंको सम्बोधनेकी मुख्यतासे रचा गया है। जो बड़े पुरुषोंके लिए कोई प्रोग्राम बनता है उस प्रोग्रामसे गरीब लोग भी लाभ उठा लेते हैं। तो साधु संतोंके लिए बनाए गए इस ग्रन्थसे गृहस्थजन भी लाभ उठा लिया करते हैं। यह तपस्वियोंको सम्बोध करके बताया गया है कि जब किसी तपस्वीको मोहसे राग और द्वेष उत्पन्न होता हो तो वह अपने आपमें स्थित शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना करे। इस उपायसे रागद्वेष क्षणमात्रमें शांत हो जायेंगे।

क्लेशमुक्तिका उपायआकिञ्चन्यवृत्ति— देखा भैया! किसी बालकके हाथमें कोई खानेकी बढ़ी चीज हो तो अन्य बालक उसे छुड़ानेकी कोशिश करते हैं। वह मुट्ठीमें बांधे है तो उसे खींच-खींचकर छुड़ा लेनेकी कोशिश करते हैं। वह बालक दुःखी हो रहा है। इसी प्रसंगमें उसके मनमें जब यह आता है कि इस चीजको फेंक दें तो वह मुट्ठी खोलकर बाहर फेंक देता है; और चाहे बाहर फेंककर अपनें ही पैरोंसे उसे मसल देता है; लो अब तो सारा झगड़ा खत्म। अब अन्य बालक किस बात पर उसे पीटें? यों ही बाह्यवस्तुवों पर हमारी दृष्टि रहती है, उन्हें अपनाते हैं तो सैकड़ों विपत्तियां आती हैं। धन वैभवका हम संचय रखते हैं तो लूटने वाले, घात लगाने वाले कुटुम्बीजन, मित्रजन अथवा अन्य कोई व्यक्ति उसके हड़प कर जानेकी कोशिश करते हैं और हम दुःखी होते रहते हैं। सभी प्रसंगोंमें जहां अपने आपके ज्ञानमात्रस्वरूपका चिंतन किया कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, यहां कुछ और लदा ही नहीं है, यह तो मैं निजस्वरूपमात्र हूं, यहां कहां विपत्तियां हैं, यह मैं तो ज्ञानानन्दमात्र हूं—ऐसे इस मेरे स्वभाव के

दर्शनमें कुछ प्रवेश तो हो कि सारे संकट क्षण भर में ही तो समाप्त हो जायेंगे।

संकट समाप्तिके लिये आन्तरिक सुगम उद्यम— भैया! संकट थे ही कहां। कल्पनासे ही संकट बना लिये थे और कल्पनासे ही शान्त हो गये। ज्ञानबलसे तो अब संकट रहा ही कहां। हे तपस्वीजनो! जब कभी मोहसे राग और द्वेष उत्पन्न हो जायें अर्थात् बाह्यतत्त्वोंकी ओर दृष्टि देनेके कारण और अपने आपकी स्मृति न रखनेके कारण जब कोई रागद्वेष उत्पन्न हो तो जरासा ही तो काम है। अपने आपके भीतर बसे हुए इस आत्मतत्त्वको निरखलें तो सारे सङ्कट समाप्त हो जायेंगे।

संकट समाप्तिके सुगम उपायपर एक दृष्टान्त— यमुना नदीके बीच चलने वाले कछुओंमें से कोई कछुवा थोड़ी देरको पानीमें अपनी चोंच उठाकर चले तो इतनेमें पचासों पक्षी उसकी चोंचको पकड़नेका यत्न करते हैं। वह कदाचित् विह्वल हो जाये तो साथ ही का कोई कछुवा मानों समझा देगा कि अरे मित्र! तुम क्यों इतनी परेशानी सह रहे हो? जरासा ही तो काम है कि चार अंगुल पानीमें भीतर आ जावो, फिर वे सारे पक्षी तुम्हारा क्या कर सकेंगे? इतनासा इलाज नहीं कर पाते और इतने संकट भोग रहे हो। समझमें आये और थोड़ा ही तो पानीमें डुबकी लगालें, अब वे सारे पक्षी क्या करेंगे?

संकटसमाप्तिका सुगम उपाय— ऐसे ही इस ज्ञान और आनन्दके समुद्रमें आनन्दमें सदा रहने वाले इस उपयोगका कभी अपने ज्ञानानन्द स्वभावमें प्रवेश हो जाये, बाहरमें उपयोग न जाये तो ये जो पचासों संकट छाये हुए हैं, अनेक परेशानियोंसे विक्षिप्त हुआ यह जीव दुःख भोग रहा है, वे सब क्लेश क्षणभरमें ही नष्ट हो जायेंगे। थोड़ा ही तो काम है कि जरा अपने ज्ञानस्वरूपके भीतर आ जाये और यह जो ज्ञानानन्दस्वभाव पड़ा हुआ है, उसमें ही विहार किया जाए तो सारे सकट क्षणभरमें ही तो समाप्त हो जायेंगे। अहो! इस उपदेशामृतको सुनकर हमारा आत्मा आत्म-उपयोग करे, इस उपायसे अपने अन्तरमें ही प्रवेश करके रहे तो क्षणभरमें ही सारे संकट समाप्त हो जायेंगे।

यात्रामें पाथेयका महत्त्व— जैसे कोई मुसाफिर बम्बई जाये, वह दो या डेढ दिनमें पहुंचता है, तो साथमें खानेसे भरा हुआ टिफनबाक्स ले जाये तब फिर उसे क्या डर है? जब कभी भूख लग आये तो झट खोल ले और खा ले एक दो पूड़ी। अपने ही पास तो उसका भोजन है। क्षुधाके दुःखका मिटानेका साधन अपने हाथमें ही तो है। जब भूख लगो तब खा

लिया, वहां काहे का कष्ट ? यों ही अपने ही पास ज्ञानानन्दस्वरूपसे भरा हुआ अपना ही आहार अपने ही साथ है। हम यात्रा कर रहे हैं बहुत बड़ी, विकट। कहांसे कहां जा रहे हैं ? पहुंच रहे हैं, मरकर कहांसे कहां जन्म लिया करते हैं। बड़ी यात्रामें हम जा रहे हैं तो साथमें यह ज्ञानका पाथेय हो, टिफनबाक्स यह हमारा अपने पास हो, फिर क्या डर ? जब भी कभी बाह्यदृष्टिके कारण कषाय आये तो उस ही समय अपने आपके भीतर में आये और उस ज्ञानभोजनको खा ले, ज्ञानसुधारसका पान करके खूब प्रसन्न रहें। क्या परवाह है ?

विवेकी जनोंका साहस— विवेकी पुरुषमें बड़ा साहस है। कुछ समागम मिला है तो उसका भी वह प्रबन्ध बनाता है, फिर भी कुछसे भी कुछ हो जाये तो उसके इतना साहस है कि हो गया तो हो जाने दो ना, कौनसा घाटा पड़ गया है ? जैसे लोग कहते हैं कि मारवाड़ीजन अपनी गरीबी मिटाने के लिए घर छोड़कर कलकत्ता जैसे बड़े शहरमें पहुंच जाये और वहां खूब व्यापार आदिका साधन हो, बड़े धनी हो जायें और बादमें वह धन कदाचित् खत्म हो जाये, गरीबी आ जाये, तो वहां उनके साहस होता है कि क्या हो गया ? लोटा डोर ही लेकर घरसे निकले थे और अब इतना ही रह गया तो कौनसा बिगाड़ हुआ ? फिर देखा जायेगा। यों ही जानों कि यह आत्मा अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरण भी कर जायेगा। इसका सब कुछ छूट जायेगा। छूट जाये तो छूट जावो। यहां स्वरूप ही ऐसा है कि सर्वत्र अकेलाका अकेला ही जन्म करना और मरना होता है।

कौनसा यहां घाटा पड़ गया है ? हे तपस्वी जनों ! जब कोई राग-द्वेष उत्पन्न होने लगें तब जितना जल्दी हो सके अपने आपमें विराजमान चैतन्यस्वरूपमात्र शाश्वत निज स्वभावमें प्रवेश करो। ये रागद्वेष क्षणभर में शांत हो जायेंगे।

वैरभावके विनाशका उद्यम— किसी पुरुषसे किसी घटनामें कुछ विरोध हो गया हो, वैर हो गया हो और उस वैर भावके कारण परेशानी भी चल रही हो तो उस परेशानीको मिटानेका सीधा उपाय यह है कि जिससे विरोध हुआ है, वैर हुआ है उससे मधुर वार्ता करके वैरभाव खत्म कर दें। उस वैरीके विनाश करनेका यत्न न करें। जो वैर मान रक्खा है सो वह भी वैर भाव मिटा दे और तुम भी वैर भाव छोड़ दो, ऐसा परस्परमें वातावरण हो जाय तो अब कहां रहा वैर ? कहां रहा विरोध ? कहां रहा वैरी ? कहां रहा विरोधी ? ऐसे समीचीन उपायको

विवेकी पुरुष ही कर सकते हैं।

रागद्वेषका मूल अज्ञानभाव— भैया ! एक बात और देखो कि यह विपदाका कारण, स्रोत अज्ञानभाव है। जब समस्त परवस्तु अत्यन्त पृथक् हैं तो उन वस्तुवोंमे राग किया जाना, यह क्यों हो गया ? क्या जरूरत थी, कौनसा काम अटका था ? यह आत्मा तो शाश्वत परिपूर्ण है, इसमें कोई अधूरापन नहीं है कि इसकी पूर्तिके लिये किसी परवस्तुकी अपेक्षा की जाये। क्यों हो गया राग ? अज्ञानभाव था, इसलिये हो गया। कोई राग की आवश्यकता न थी। सर्व पदार्थ हैं, सदा परिणमते रहते हैं, अपनी इन अवस्थाओंकी पलटना किया करते हैं। मैं भी अपरिपूर्ण नहीं हूं। जगत्के अन्दर समस्त पदार्थ अपरिपूर्ण नहीं हैं, फिर क्या आवश्यकता थी जो कि रागविकार बनाया जाये। अरे ! कुछ आवश्यकता देखनेकी अटकी है क्या ? आवश्यकता देखकर रागद्वेष हुआ करते हैं क्या ? वह तो अज्ञान का फल ही तो है। इस अज्ञान में स्थित रहकर ही तो रागद्वेष हुवा करते हैं।

आत्महित व अन्तःशरण— जगत्के सर्व जीव न्यारे हैं— ऐसे ही आपके गृहमे उत्पन्न हुये दो चार प्राणी भी उतने ही बराबर न्यारे हैं, लेकिन औरोंमे तो राग होता नहीं, घरके दो चार लोगोमे राग हो जाता है। हो जाये राग, वह तो गृहस्थोंकी एक पद्धति है, पर अन्तरमें प्रतीति जो बन गयी है कि ये मेरे हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं—इस विरुद्ध प्रतीतिने ही इस चैतन्यप्रभुको बरबाद कर दिया है। किसकी शरणमे जायें कि ये संकट मिट जायें ? खूब देख लो। बाहरमें कहीं कोई शरण न मिलेगा कि जिससे संकट मिट सकें। यह खुद ही अपने आपकी शरणमे आये और अपनेको अकेला ज्ञानमात्र निरख सके तो इसके संकट दूर हो सकते हैं। यह पड़ा है काम पहिले करने के लिये। दूकान, मकान आदिकी सारी व्यवस्थाएँ करनी पड़ रही हैं, पर ये काम करनेके लिये नहीं हैं। करने के योग्य काम तो यह आत्महितका है।

आत्महितका परिणाम— आत्महित आत्माके सहजस्वभावकी श्रद्धा में है और उसके ही अनुरूप अपनी व्यवस्था बनानेमें है। इतना ही तो सारे संकट दूर करनेका उपाय है। यह उपाय न किया जाये तो संकट तो आयेंगे ही। संसारके जन्ममरणका सिलसिला तो चलेगा ही। क्लेशोंसे बचना है तो एक ही कार्य करना है कि निजको निज परको पर जान। जो आत्मस्वरूप है, आकाशवत् निर्लेप अमूर्त ज्ञानस्वभावमात्र, ज्ञानानन्दभावस्वरूप है उसको जानों कि यह मैं हूं और इस भावके अतिरिक्त अन्य

जो कुछ-परतत्त्व हैं उनको समझो कि ये पर हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं तो फिर शांतिका मार्ग अवश्य मिलेगा। कुछ सरल बनो। जो मनमें हो सो वचनोंसे कहा जाय, जो वचनोंसे कहें सो कायसे करे, कोई पुरुष मेरे कारण धोखेमें न आ जाय, इतनी सरलता हो तो उस सरल पुरुषको आकुलताएँ नहीं आ सकतीं।

लोकसुखका भी कारण सत्यवर्तना— यद्यपि आजकल लोग कहते हैं कि जो जितना चालाक होगा, चंट होगा, धोखा दे सकने वाला होगा वह उतना ही सुखी रहेगा, वैभववाला बन जायेगा, सर्व समृद्धियां हो जायेंगी और जो सरल होगा उसे ये सब वैभव कहासे मिलेंगे? लेकिन वैभव भी मिलता है तो वह निष्कपटतासे, सरलतासे, सच्चाईसे और ईमानदारीसे। किसी पुरुषके बारेमें पब्लिक यदि यह जान जाय कि यह तो झूठा है, बेईमान है, मायाचारी है तो उसका कौन ग्राहक बनेगा? चाहे मायाचार किया हो, अशुद्ध बरताबा किया हो, लेकिन जब यह जाहिर हो कि मैं सत्य हूं और धोखा नहीं दे सकता हूं, ऐसी बात व्यक्त हो तो उसकी दुकान चल सकती है।

सरल स्वतत्त्वके आदरमें कल्याण— भैया! सरल बनो, सज्जन बनो, फिर कुछ परवाह न करो। बुद्धू होना और बात है, सरल होना और बात है। बुद्धू तो ठगाया जायेगा और सरल पुरुष कभी ठगाया न जायेगा और फिर जेबसे कुछ पैसे निकल गये तो इसमें क्या ठग गये? यदि हम दूसरे को ठगें तो हम स्वयं ठग गये। हमारी संसारयात्रा और लम्बी हो जायेगी और यदि किसी दूसरे ने मुझे ठगा है तो मैं कुछ भी नहीं ठग गया। न्याय नीतिसे रहना ही मेरे सुखका कारण बनेगा। हे तपस्वी पुरुषों! जब कभी मोहवश राग और द्वेष उत्पन्न हों तो थोड़ा ही तो इलाज है। अपने आपमें बसे हुए निज तत्त्वकी भावना करो। बस सारे संकट क्षण मात्रमें ही समाप्त हो जायेंगे।

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्धया तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

रागविलयका यत्न— राग और द्वेषभावमें प्रबल है राग। द्वेषका संसार तो शीघ्र मिट सकता है किन्तु रागका संस्कार मिटना कठिन है। द्वेष भी रागके कारण हुआ करता है। जिस किसीसे राग है उसमें जो बाधक बने उससे द्वेष हो जाता है। तो द्वेष होनेमें कारण पड़ा किसी विषयका राग होना। तो रागका परित्याग होना बहुत आवश्यक है। कैसे राग मिटे? इसही विषयमें फिर भी यह श्लोक कह रहे हैं। मुनिको जिस

शरीरमें प्रेम हो रहा हो उससे इस देहोको अर्थात् आत्माको अलग हटाकर बुद्धिके द्वारा उससे भी उत्तम कार्यमे लगा देवे तो प्रेम नष्ट हो जाता है।

मोहियोंके प्रेमका आश्रय असार शरीर— यह औदारिक शरीर जिसमें अनेक रोग भरे हुए हैं, आयुर्वेद बताता है कि जितने रोम हैं उससे भी कई गुणे रोग शरीरमें हैं, रोगोंसे भरा है; घिनावना है, मिटने वाला है। कौनसा इस शरीरमे सार है कि उसे आंखोंसे निरखा करें? कभी-कभी ऐसा भी देखनेमें आता कि शरीरसे बहुत अच्छा तो कपड़ा है। खूब रंगीन, चटकीली रेशमी बनारसी सुन्दर साड़ी पहिन कर इस शरीर की शोभा बढाई जाती है। शरीर देखो तो वही है और कहो रूपरंगका भी भद्दा शरीर हो और कपड़े पहिन लिए जायें चमकीले तो वहां अंदाज लगावो कि उस शरीरसे भी अच्छा कपड़ा है। शरीरमें तो धोखा है, पसीना निकल आये, बदबू करे, पर ये कपड़े तो कोई धोखा नहीं देते। जैसे हैं सो ही हैं।।

शृङ्गारका कारण आधारकी अशोभनीयता— भैया! ज्यादा शृङ्गार क्यों किया जाता है, इसलिए कि शरीर सुहावना नहीं है, अच्छा नहीं है और इसको अच्छा बनाना है तो शृङ्गार करें, सजावट करें जिससे शरीर की शोभा और बढ जाय। क्योंकि शरीर तो शोभावाली चीज ही नहीं है और उसकी शोभा बढाना है तो इतने गहने लाद लिये, मानों सिर पर मेढक बैठा लिया, कानमें ततैया तथा नाकमें मक्खी बैठा लिया, कितने ही आभूषण पहनने पड़ते हैं, क्योंकि शरीरमें इतनी शोभा ही नहीं है कि बिना इतना शृङ्गार किए भला लगे। जिस अपवित्र शरीरसे इसे प्रेम है उस शरीरसे उपयोगको हटावे और इससे भी उत्तम जो काय है—क्या है? ज्ञानशरीर आत्मतत्त्व, उसमें उपयोगको लगादे तो प्रेमपरिणमन नष्ट हो जायेगा।

निजपरिचय बिना हाड़के ढांचेमें रमण— जब तक इस प्राणी को अपने आधारभूत ज्ञानानन्दस्वभावी निराकुल शांत निज उपवनमें क्रीड़ा करनेका अवकाश नहीं मिलता तब तक ही यह जीव हाड़ मांसके पिण्डमें प्रीति करता है। क्या है? ऊपर चामकी चादर पतलीसी मढ़ी है, मक्खीके पंख बराबर चादर मढ़ी है उससे यह गंदगी ढकी है। यदि यह पतली चमड़ी अलग हो जाय तो कैसा बीभत्सरूप इसका लगे और अब भी देखो तो इस चर्मको तो गौणकर दो और इस सिरमें जरा ध्यान देकर देखो है क्या? जैसे मरघटमें पड़ी हुई मनुष्यकी खोपड़ी हो और इस मनुष्यकी खोपड़ी हो तो इन दोनोंमे अन्तर है क्या कुछ? कुछ भी तो

अन्तर नहीं है। इन दोनोंका भीतरसे ढांचा देख लो तो वहां फिर रागभाव अथवा खोटा परिणाम न होगा।

असार शरीरके स्नेहकी व्यर्थता— यह शरीर एक अजंगम है, यह खुद चल नहीं सकता, यह खुद कोई कार्य कर नहीं सकता। इसमें जीवका सम्बन्ध है इसलिए ये सारे नटखट हो रहे हैं। जैसे मोटर जहां खड़ी है सो खड़ी है, ड्राइवर हो तो चले, इसी प्रकार यह जो पौद्गलिक शरीर चला करता है वह इस चेतन जीवके सम्बन्धसे चला करता है। यह शरीर स्वय तो महाभयानक है, इसमें क्या राग करते हो। कोई कहे कि भयानक ही सही, तो क्या हुआ, अपना ही तो शरीर है। अरे भयानक के साथ यह महाअपवित्र भी है। अपवित्र भी है तो रहो, भयानक भी है तो रहो, है तो अपना ही शरीर। कहते हैं कि इन दो के अतिरिक्त यह विनाशीक भी है, नष्ट हो जायेगा। कोई कहे—हो जाय नष्ट—जब नष्ट होगा तबकी बात है, पर जब है तब तक तो शरीरका उपयोग उपभोग करो ना खूब। तो कहते हैं कि इन तीन ऐबोंके अतिरिक्त चौथा ऐब इसमें यह है कि यह संताप ही पैदा किया करता है। ऐसे इस असार शरीरमें स्नेह करना व्यर्थ है।

लोकमें गर्व लायक वस्तुका अभाव— जो जन शरीरको नजरमें रखकर घमंड बगराते हैं, गर्व करते हैं, आहा मैं कितना सुन्दर हूं, कितना पुष्ट हूं, कितना मनोहर हू, ऐसा जो गर्व किया करते हैं उनकी वह महा-मूढ़ता है। क्या सुन्दरता है? क्या नाकके अन्दर नाक नहीं भरी है, मुख के अन्दर राल, थूक आदि नहीं भरे हैं? यह सारा अपवित्र शरीर है तिस पर भी गर्व किया जाय तो यह किस बातका गर्व है? शरीर तो गर्वके लायक नहीं है। जब शरीर भी गर्वके लायक नहीं है तो क्या धन वैभव गर्वके लायक है? ओह मेरे पास हजारों लाखों का धन है, इतनी जमीन है, ऐसा ठाठका मकान है यह भी गर्वके लायक बात नहीं है। ये भी विना-शीक हैं। और जो परपदार्थ हैं, इनका ध्यान करने से तो आकुलता ही बढ़ती है, शांति नहीं आती है।

धनकी व्यर्थ चिन्ता— जैसे कोई पक्षी अपनी चोंचमें मांसका टुकड़ा लिए हुए हो तो अनेक पक्षियोंके द्वारा वह पक्षी सताया जाता है और वह मासका टुकड़ा छिना लेते हैं। यह तो कांव-कांव करके रह जाता है। यों ही इस धन वैभवका प्रसंग जब तक है, तब तक तो उस पर अनेक लोग टूटते हैं, लगावो टैक्स। एक लाखकी आमदनी हो तो उसमें शायद ८०, ६० हजार टैक्समें चले जाते हैं। अरे तो १० ही हजार

कमाओ ना और कमायीमें स्वतः अगर आ जाये लाखोंका धन तो आ जाये ना, हमारा उसमें क्या बिगाड है? जहा जायेगा उसीका लाभ है, पर हम धनके लिये ही, कमानेके लिये ही आकुलता मचाएँ, चिंताएँ किया करे तो उससे क्या होगा, उसका क्या किया जायेगा? दूसरों को ही दे जायेंगे अथवा स्वयं कहीं न कहीं चला जायेगा।

धनवैभवकी उपेक्षामें ही हित— यदि दूसरेको धन दे गये, तब भी चलो कुछ भला है, पर जिसको दे गये, उसका भी तो जुम्मा नहीं है कि उसके पास टिक सकेगा या नहीं। यहां तो जीवनभर हाय हाय करके जोड़ा हुआ धन दिया और जिसे दिया वह निकल गया भाग्यहीन तो वह उस धनको चन्द दिनोंमें ही बरबाद कर देगा। और मानों न भी दे गये किसी को, थोड़ी ही पूंजी उसके पास है और है वह सपूत तो कितना और धन वह कमा लेगा। धन वैभवके संचयके लिये चिंताएँ करना यह विवेक नहीं है। हां उदयकी प्रबलतामें लाखों आ जाये तो क्या हानि है? आते हैं तो आने दो। धन वैभव की उपेक्षामें ही हित है।

उदारभाव— बुन्देलखण्डमें एक राजा गुजर गया। रानी उस गद्दी की मालिक हुई। उसका बच्चा केवल ९-१० वर्षका था, पर उसके उदारता की वृत्ति सहज थी। सैकड़ों हजारों रुपयोंका रोज अपने हाथसे वह दान दे डालता था। जो मिले सो वह दानमें दे डाले। एक बार मांने पूछा कि क्यों बेटा! यह जो सामने पहाड़ खड़ा हुआ है ना, उतना बड़ा सोनेका ढेर, रुपयोंका ढेर दे दिया जाये तो वह तुम कितने दिनमें दान कर दोगे? तो लड़का बोला कि मां मैं तो एक मिनटमें दान कर दूंगा, अब उठाने वाले चाहे कितने ही दिनोंमें उठावें। हम उसमें कुछ नहीं कर सकते। भाग्यसे धन आता है, आने दो, मगर चिंतायें करके धन संचय करना, अनावश्यक धनसंचय करना तो अच्छा नहीं है। उदयवश सहज ही आये तो उसका उपयोग और उपभोग करो। जब शरीर भी गर्व लायक नहीं है तो धन वैभवका क्या गर्व करना?

लोकविभूतिकी मायारूपता— एक सेठने बहुत बढ़िया हवेली बनवायी, उसका उद्घाटन कराया। सभा जुड़ी तो लोगोंने सेठजी की प्रशंसा के पुल बांध दिये। सो सेठजी खड़े होकर कहने लगे (कहा तो मधुर शब्दों में, पर भीतर भरा है घमण्ड) कि भाइयों! इस हवेलीमें यदि कोई नुक्स हो तो कृपा करके बता दो। आप लोगोंकी इच्छा के अनुसार उस त्रुटिको दूर कर दिया जायेगा। सभीने कहा कि बहुत अच्छी हवेली है, इसमें कोई भी त्रुटि नहीं है। पर जन खड़ा होकर बोला कि सेठ जी! इसमें हमको दो

बड़ी गलती नजर आ रही हैं। सेठ बोला इञ्जिनियरों! देखो यह साहब जो गलतियां बतावें, फौरन दूर करो। अच्छा बताओ गलती। जैन कहने लगा कि पहिली गल्ती तो इसमें यह है कि यह हवेली सदा न रहेगी। ओह यह सुनते ही सेठजीके कान खड़े हो गये कि यह गलती कैसे मिटे? ...... खैर! दूसरी गलती बताना। दूसरी गल्ती यह है कि इस हवेलीका बनवाने वाला भी सदा न रहेगा। तो यह भी गलती वह कैसे मिटावे? तो किस बात पर गर्व है? गर्व करने लायक यहां कोई पदार्थ नहीं है। बड़ी नम्रतासे रहो, सबको अपने समान स्वरूप वाला निरखो। किसीको तुच्छ न मानो। कुछ भी नहीं अटकी है दूसरोंको ओछा माननेसे। बल्कि दूसरोंको तुच्छ गिनने से पापकर्म का बन्ध होता है, वह ब्रह्मस्वरूपके दर्शनमात्र से ही दूर हो जाता है।

किस पर गर्व— भैया! किसी भी बात पर गर्व न होना चाहिये। कुछ ज्ञान मिला तो क्या मिला? केवलज्ञानके सामने सब ज्ञान सूर्यके आगे दीपक बराबर भी नहीं हैं। किन्हीं लोगोंके द्वारा सम्मान, प्रतिष्ठा, इज्जत मिल गई तो क्या मिल गया? सब मायामय पुरुष हैं, उनकी मायामय चेष्टा है, कौनसा तत्त्व मिल गया? अच्छे कुलमें पैदा हो गये तो उसका भी क्या घमण्ड? अरे यह देह ही मेरा नहीं है, बल्कि देहके ही कारण इस संसारमें यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। तो फिर इस देहके कुल पर, पैदायश पर, परम्परा पर क्या गर्व करना? मांका घराना अच्छा हुआ, मेरी मां बड़े अच्छे घरानेकी है, अरे उस घराने पर भी क्या गर्व करना? जो कुलकी बात है, वही जातिकी बात है। शरीरमें बल मिला तो उसका भी क्या गर्व करना? जिसके शरीरमें बल ज्यादा हो, वह अपन से बड़ा हो—ऐसा तो कुछ नियम नहीं है। जितना बल भैंसोंमें है, जो भों-भों करता है, उसका बीसवां हिस्सा बल शायद मनुष्यमें होगा अर्थात् २० मनुष्योंके बराबर साधारणतया एक भैंसा होता है। और देखो मनुष्यसे ज्यादा बल तो गधेमें। तो इस शरीरके बलका क्या गर्व करना। यद्यपि बल भी पुण्यके उदयसे होता है। ठीक है, पर यह तो नियम नहीं है कि जहां शरीरबल बढा हुआ है, वहां बड़वारी है। कई महापुरुष महाबली हुए हैं, उनमें ज्ञानविशेष भी था, इससे बलकी प्रशंसा है।

ऋद्धि तपस्याका क्या गर्व— ऋद्धि सम्पत्ति मिल गई तो क्या हुआ, क्या मिल गया है? सब बाह्यपदार्थ हैं। कुछ तपस्या हो गयी, कुछ व्रत हो गया, कुछ धर्म कर्म करते हैं तो प्रथम तो यह भी ठीक निश्चित नहीं है कि धर्म, कर्म, तप और व्रत ढंगसे भी हो रहे हैं या अटसंट। तो

उसको, मगर यों ही व्यर्थमें लड़ मरे। ऐसे ही इस विश्वमें कोई परमार्थकी बात नहीं है। सब मायारूप हैं। असमानजातीय द्रव्यपर्याय बताया है इन सब प्राणियोंको अर्थात् जीव और पुद्गल दोनोंके सम्बन्धसे होने वाला यह माया स्वरूप है। बात भी न कुछ है, पर विसम्वाद, तृष्णा, विडम्बनाएँ इन सबका नाच हो रहा है।

भैया! मनुष्यभव पानेका वास्तविक लाभ यह है कि हमें अपने आत्माके उस सहजस्वरूपको पहिचानें जो आत्माके सत्त्वके कारण आत्मा में सहज अनादिसे है। कौनसा स्वरूप है मेरा? ज्ञान और आनन्दस्वरूप। ज्ञानके कोई रंग होता है क्या, ज्ञानमें कोई रस होता है क्या? न गंध है, न शब्द है। ज्ञान तो एक जाननभाव है। और यह जाननभाव स्वतः ही आनन्दभावको लिए हुए है। मात्र जाननमें किसी प्रकारकी आकुलता नहीं है। ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप मेरा है। मेरा वैभव ज्ञानशक्ति और आनन्दशक्ति है, मेरा घर मेरे आत्माका ज्ञानतेजमंडल है, अर्थात् आत्मप्रदेश है। मेरा परिवार मेरी अनन्त शक्ति है। मैं मेरे से आया हूं, मैं मेरेमें जाऊँगा। मेरी वर्तमान दुनिया यह मैं ही हूं। मेरा परलोक यह मैं ही हूं। परलोक भी पहुंच चुका तो वहां पर मैं मैं ही रहूंगा। ऐसे मेरे सर्वस्वसारभूत ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मतत्त्वको यदि न पहिचाना तो मनुष्यभव पाकर क्या किया? विषयों में, वैभवमें ही अपना जीवन गुजार दिया तो कुछ न पाया।

विषयभाड़से बचावकी भावना— लोग एक कहावत कहा करते हैं कि १२ वर्ष दिल्ली रहे और झोंका भाड़। भाई कहां गये थे? दिल्ली। कितने वर्ष रहे? बारह वर्ष। क्या किया? भाड़ झोंका। अरे भाई अगर तुम्हें भाड़ ही झोंकना था तो यहां का गांव क्या खराब था? यहां ही अपने घरमें रहकर भाड़ झोंक लेते। इसी प्रकार कहां गये? मनुष्यभवमें। कितने वर्ष रहे? लगभग ५० वर्ष। क्या किया? विषयोंका भाड़ झोंका। अरे भाई यदि विषयोंका भाड़ ही झोंकना था तो वह पशुपर्याय क्या खराब थी? पशुपर्यायमें ही रहते। मनुष्यपर्यायमें क्यों आये? इतना उत्कृष्ट मनुष्यभव पाकर यदि हमने विषयोंमें ही सारा जीवन गँवा दिया तो कुछ न किया। बल्कि सारा नुकसान ही रहा। सोच लो। जो बुद्धि बड़ी उम्र होने पर आती है वह बुद्धि यदि जल्दी ही आ जाय तो इस जीवका बहुत भला हो। कुट पिट जानेके बाद जो बुद्धि आती है वह बिना कुटे पिटे में आ जाय तो बड़ी भली बात है। मगर कहां से आये? जब कुट लेते हैं, पिट लेते हैं, बरबाद हो जाते हैं तब समझमें आता है कि ओह! कहां

फँसे रहे, कहां चित्त दिये रहे ? आत्माका सार वहां कहीं न था। सार मिला तो इस आत्मतत्त्वमें। पर इस आत्मतत्त्वकी सारभूत बात सीखनेके लिए श्रम और समय देना होगा।

ज्ञानसाधनाका पुरुषार्थ— एक जिज्ञासु पहुंचा साधुके पास। कहा महाराज! कुछ शिक्षा दीजिए। साधुने कहा, अच्छा सीखो—परमंब्रह्म, एकोऽहं, एकं ब्रह्म। अच्छा साहब और पढावो। फिर साधुने वही बोल दिया। और पढ वो फिर वही बोल दिया। शिष्य ने कहा— महाराज अब और कुछ पढ़ावो। साधुने कहा अच्छा, यदि तुम्हें और कुछ सीखना हो तो अमुकं गावके पांडे जी के पास जावो। पांडे जी के पास गया वह शिष्य सीखनें। कहा— महाराज हमें कुछ विद्या सिखावो। पांडे जी ने कहा— अच्छा हम तुम्हें कुछ काम देते हैं सो काम करो और विद्या सीखो। हां हां करेंगे। देखो हमारी गौशालामें जो गोबर होता है सो उसका कंडा पाथना गोशाला साफ करना और फिर विद्या सीखना। अच्छा महाराज। उसने यह काम किया बारह वर्ष तक। बारह वर्षके बाद कहा, महाराज अब अन्तिम सारभूत विद्या सिखा दो। बोला— परमंब्रह्म एकोऽहं, एक ब्रह्म। जिज्ञासु ने कहा, अरे इतनी बात तो हमे १२ वर्ष पहिले साधु जी ने सिखा दी थी। अरे तो और क्या सिखायें ? तो क्या महाराज हमने १२ वर्ष मुफ्त ही गोबर उठानेका काम किया ? अरे भाई इतनी बात सीखनेके लिए १२ वर्ष तक ये सारे काम करने ही चाहिये थे। हम कुछ श्रम न करें, कुछ समय न दें, सत्सग न बढाये और चाहें कि हमारा भला हो जाये तो ऐसा कैसे हो सकता है ? आत्महित चाहते हो तो ज्ञानार्जन करो, सत्संग करो, कषायको पी डालो याने दूर करो, ऐसी ही वृत्तिसे हम आप कल्याण के सम्मुख होंगे।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥४१॥

क्लेशका कारण भ्रम— जितने भी क्लेश होते हैं वे आत्माके भ्रम से होते हैं—अर्थात् अनात्मतत्त्वमें यह मैं हूं, इतना भ्रम हुआ कि सारे क्लेश इस पर आ जाते हैं। कोईसा भी क्लेश हो, किसी की भी कहानी सुनो—यदि कोई अपना क्लेश कह रहा है तो पहिचानते जावो कि इसने अपनी दृष्टिमें कहां भूलकी है जिससे इसे क्लेशका अनुभव होता है। कोई पुरुष कहे कि मेरे तो बड़ा कष्ट है, अमुकमें टोटा हो गया, उसमें अब मुनाफा नहीं है अथवा कोई पड़ौसी बड़ा धन जोड़ने लग गया है, बड़ा कष्ट है। कह कौन रहा है ? एकसंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव। वह जितना है तितना ही

है, उसमें से कुछ गया नहीं और न उसमें कुछ आया था, लेकिन परद्रव्योंमें जो उसने यह दृष्टि बना ली कि मैं इतना वैभववान हो गया हूं ऐसा जो भ्रम किया था उस भ्रमके कारण क्लेश हो रहा है।

आर्तभावकी भ्रममूलकता— जितने भी दुःख हैं, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदिके क्लेश हैं, वे भ्रमसे हैं। कोई कहे कि मेरा अमुक बड़ा मित्र था, मेरा लड़का, मेरा कोई रिश्तेदार, स्त्री कोई भी वियुक्त हो गया है, गुजर गया है, मैं अकेला ही रह गया हूं, बड़ा कष्ट है। अरे कष्ट कहां है, तुम तो अकेले ही थे। जिस भवसे आये, क्या दूसरेको साथ लेकर आये अथवा जावोगे, तो क्या किसी को साथ लेकर जावोगे? अकेले ही थे, अकेले ही रहते हो, कहा कष्ट है, लेकिन परपदार्थोंमें यह मेरा है—इस प्रकार की जो कल्पना बना रक्खी उसके कारण इस समय कष्ट हो रहा है। आत्माके भ्रमसे उत्पन्न हुआ क्लेश मिटेगा कैसे? आत्मज्ञानसे। यह मेरा है, इस कल्पनाके कारण होने वाला क्लेश मिटेगा कैसे? यह मेरा नहीं है, इतना ज्ञान होनेसे क्लेश मिट जायेगा।

ममताभावका क्लेश— एक व्यापारी अचानक भाग्य साथ न देनेसे बहुत घाटेमें पड़ गया और दूर किसी शहर मानों कलकत्ता वह चला गया अपना गुजारा करने के लिए। घर पर एक वर्षका बालक और स्त्री को छोड़कर धन कमाने के लिए चला गया। वहां उसका अच्छा रोजगार लगा और उस रोजगारमें धनकी आयमें इतना व्यस्त हो गया कि उसने १४ वर्ष तक घर आने का मौका न पाया। अब बच्चा बढ़कर १५ वर्षका हो जाता है। मां कहती है बेटा! तुम अपने पिताको लिवा लावो। १४ वर्ष हो गए हैं, अमुक शहरमें हैं, अमुक मुहल्लेमें हैं, अमुक नाम है। वहांसे लड़का बापको लिवानेके लिए चला और उसी समय वहांसे बाप चला अपने घरके लिए। रास्तेमें एक बड़ी धर्मशाला में पास-पासके कमरेमें अलग-अलग वे दोनों ठहर गये, पर बाप न बेटाको पहिचाने और न बेटा बापको पहिचाने। अचानक हुआ क्या कि उस बेटेके पेटमें बड़ा दर्द हुआ, वायुगोला उठा, और पिताके पास उस रोगकी दवा भी थी, लेकिन उस लड़केकी चिल्लाहट सुनकर जब बापको नींद न आयी तो चपरासीको बुलाकर कहता है कि यह कौन लड़का रो रहा है, इसे धर्मशालासे बाहर करो। हम दो दिनके जगे भये हैं, नींद नहीं आती है। चपरासी कहता है कि रात्रिके १२ बज गए, इसे कहां निकालें? इसी दुःखमें लड़केका पेट दर्द ज्यादा बढ़ा और दिल पर अटैक हुआ, पेट दर्दके मारे वह गुजर गया।

अब दूसरे दिन बाप घर पहुंचता है, सब कुशल पूछता है और वह

कहता है कि लड़का कहां गया ? स्त्रीने बताया कि लड़केको आपको ही तो लिवाने के लिये भेजा है। अब वह चला अपने लड़को ढूँढनेके लिये। पता लगाते-लगाते उस धर्मशालामें भी पहुंचा। मैनेजरसे पूछा कि यहां अमुक नामका कोई लड़का तो नहीं आया ? उसने रजिस्टर उठाकर देखा और कहा कि हां, अमुक नामका लड़का दस दिन पहिले यहां आया था, अपने पिताको लिवाने जा रहा था। फिर क्या हुआ ? उसके पेटमें दर्द हुआ और दर्दके मारे गुजर गया। अब गुजरनेका नाम सुनकर बेहोश होकर गिर पड़ा। भला बतावो कि जब लड़का सामने था, खूब देखता था तब तो प्रेम न उत्पन्न हुआ, तब तो उसे भगानेकी ही पड़ी थी और जब मर गया, सामने नहीं है, किन्तु इतना ख्याल भर आया कि वह मेरा ही पुत्र था तो इस कल्पनासे वह बेहोश हो गया।

मोही जीवकी चार आन्तरिक चोटें— भैया ! दुःख देने वाला दूसरे पदार्थका संयोग-वियोग नहीं है, किन्तु मेरा ही इस प्रकारका परिणाम शल्यकी तरह दुःखी किया करता है। चीज हो तब भी दुःख, न हो तब भी दुःख। दुःखका कारण तो भ्रम है, वस्तुका मिलना या विघटना ही दुःखका कारण नहीं है। प्रथम तो इस मोही जीवकी शरीरमें आत्मबुद्धि हुई है कि यह मैं हूं। पश्चात् दूसरेके शरीरोंमें दूसरे आत्मा हैं—ऐसी ही बुद्धि हुई। इसके बाद फिर धनसंचय की आवश्यकता जानी और उसमें अपनी पोजीशन समझी। उसमें "यह मेरा है" ऐसी बुद्धि हुई, पश्चात् सबसे कठिन समस्या मुश्किलसे मिटने वाला एक राग है— वह है यश का राग। इस यशके रागमें ही यह सारा का सारा जीवलोक बहुत ही परेशान है।

पशु पक्षियोंमें भी शानका क्लेश— बछड़े भी दो लड़ने लगे तो वे गम नहीं खाते हैं। वे लोहूलुहान भी हो जाते हैं, तो उनके भी यश पोजीशनकी बात लगी हुई है, वे भी बछड़ोंके बीचमें अपनेको कुछ जताना तो चाहते हैं कि हम कैसे बलवान् हैं, मैंने उस बछड़ेको कैसा मार भगाया ? इन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके मनमें भी यश, पोजीशनकी तरंगें उठा करती हैं, नहीं तो गम न खाते। भैसा भैंसा परस्परमें यदि लड़ जायें तो उनको बचाना बड़ा कठिन हो जाता है, यदि उनको बचाने जायें तो स्वयंको उनसे बचकर भागना पड़ता है। वे बड़े गुस्सैल जानवर हैं, तो उन जानवरोंमें भी शान, पोजीशनकी बात पड़ी हुई है।

इस मंदिरके सामने कबूतर बैठते हैं। कोई कबूतर बैठा है, उसके पास कोई दूसरा कबूतर आ जाये तो चोंच मारकर, पंख मारकर उसे

भगा देता है। बादमें वह कुछ हिलडुलकर अपनेमें बड़ा बड़प्पन महसूस करता है। इस शान और पोजीशनने इस समस्त जीवलोकको बरबाद कर दिया है।

छोटे शिशुओंमें भी शानका क्लेश— कोई छोटा बच्चा गोदमें चढा हो और उसे मा गोदसे उठाकर नीचे धर दे तो वह अपना मान भंग समझता है। बोलना भी नहीं जानता, है भी वह छोटासा छः माहका बच्चा, मगर नीचे बैठा देने पर वह रोने लगता है। उसे कोई अच्छी चीज भी खिलावो, खिलौना भी दो, पर उसका रोना बन्द नहीं होता। वह खिलौनेके अभावमें नहीं रो रहा है, वह भूखके कारण नहीं रो रहा है, बल्कि मानभंग जो कर दिया गया, उसकी चोटसे रो रहा है। उसे गोदमें लेलो, अभी उसका रोना बन्द हो जायेगा। इस मानकी कल्पनामे पशु, पक्षी, मनुष्य सभी पड़े हुये हैं।

सर्वत्र मायाछाया— जितना यह सब असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, वह मायारूप है। परमार्थ तो वह है जो खाली जीव हो, खाली पुद्गल हो। जीव और पुद्गलके सम्बन्धमें होने वाली यह जो अवस्था है, वह मायारूप है, पर मायारूपी मायारूप वालोंमें मायारूप पोजीशन रखना चाहते हैं, कुछ तत्त्व नहीं है। जैसे स्वप्नमें कोई अपनी शान रखता हो तो उसकी शान बेकारसी है। है तो कुछ भी नहीं वहा। इसी प्रकार यहां पर भी कोई शान रखना चाहता हो तो बेकारकी बात है। परमार्थभूत बात तो यहा कुछ भी नही है, पर कितना दुःख हो गया, रात दिन कष्ट हैं। धनी सोचते होंगे कि गरीब सुखी हैं, गरीब सोचते होंगे कि धनी सुखी हैं, पर धनियोंको देखो तो वे भी दुःखी और गरीबोंको देखो तो वे भी दुःखी। धनिक सोचते हैं कि गरीबोंको कोई चिंता नहीं है, सुखी हैं। गरीब सोचते हैं कि धनिकोंके पास धन खूब है, सुखी हैं। परन्तु सुख धनका कारण नहीं है। यह अपने आपमें जो असतोपका परिणाम है, उससे क्लेश हैं। परपदार्थोंमें "यह मैं हू' इस प्रकार आत्माका भ्रम होनेसे ये सब क्लेश हो गए हैं, किंतु यदि मूलका आत्मभ्रम मिटे तो फिर वहा ये क्लेश हो ही नहीं सकते।

भ्रमविनाशमे क्लेशविनाश— एक जंगलमें स्याल स्यालनी थे। स्यालनीके गर्भ रह गया, सो भींतके समीप एक शेरके रहने के स्थानमें बच्चे जन्माये। जब कोई डरकी बात आये तो स्यालनी बच्चोंको रुला देवे। स्याल पूछे कि बच्चे क्यों रोते हैं ? स्यालनीने कहा कि बच्चे शेरका मांस खानेको मांगते हैं। यह सुनकर शेर आदि कोई भी जानवर हो तो वह डर

कर भाग जाये । इस प्रकार कितने ही शेर आये, पर सब यह सुनकर डर कर भाग जाते । सभी शेरोंने मिलकर गोष्ठी की कि वह जो ऊपर बैठा है, उसीकी सारी बदमाशी है, उसने ही सबको परेशान कर रक्खा है । सब उसी भींतके पास आये । सोचा कि इसे कैसे मारे ? सलाह हुई कि एक पर एक शेर चढ़ जाये और सबसे ऊपर वाला उसे मार दे, यह ठीक है । नीचे कौन रहे ? विचार हुआ कि यह जो लंगड़ा शेर है, वह ऊपर तो चढ नहीं सकता, सो उसे नीचे रक्खो और फिर एकके ऊपर एक चढ़कर उसे मारें । प्रबन्ध ऐसा ही हुआ ।

परन्तु यह सब प्लान स्यालनी ने सुन लिया । जब शेर स्यालके पास पहुंचने वाले थे तो उसी समय स्यालनीने बच्चोंको रुला दिया । स्यालने पूछा कि ये बच्चे क्यों रोते हैं ? स्यालनीने कहा कि ये बच्चे इस लंगड़े शेरका मांस खानेको मागते हैं । अब डरके मारे लंगड़ा शेर नीचेसे खिसक गया । सभी शेर धड़धड़ करके गिर गये और भाग गये । फिर शेरोंने तो बिल्कुल हिम्मत नहीं की कि वहां चलें और मारे । यह आत्मभ्रम भी लंगड़ा है । इस आत्मभ्रमके कारण रागद्वेष, शोक, क्रोध, मान, तृष्णा आदि सारे ऐब खड़े हो गये, सारे क्लेश आ गये । यह भ्रम नीचेसे खिसके तो कोई क्लेश इस जीवमें नहीं रह सकता ।

सुखका सरल उपाय— सुखका उपाय कितना सरल है ? भूखे रहने की बात नहीं कही जा रही है, कुछ भी छोड़नेकी बात नहीं कही जा रही है । कपड़े उतारो, ठण्डमें मरो—ऐसी बात अभी नहीं कही जा रही है, पर इतनीसी बातका अन्तरमें निर्णय हो जाये कि मैं ज्ञान प्रकाशमात्र हू और मेरेसे अतिरिक्त बाहर मेरा कुछ नहीं है, मै परिणमता हूं, अपने परिणमनसे ही परिणमता हूं, दूसरे पदार्थका मुझमें रंच प्रवेश नहीं है—यह बात सत्य है या नहीं ? सत्य है, अब ऐसा विश्वास कर लीजिये, फिर तो मोक्ष जानेका प्रमाणपत्र आपको मिल चुका है । सम्यग्दृष्टि पुरुप निकट काल मे ही सर्वसंकटोंसे मुक्त हो जायेगा ।

हैरानी मेटनेका उपाय— भैया ! शायद आप लोगोंको होती होगी हैरानी कि मंदिरमें आते हैं या प्रवचनसभामे आते हैं । वहां भी ठोकर लगती है वैराग्यभरी बातोंकी और दुकानमे बैठते हैं तो वहां भी ठोकर लगती है ग्राहकोंकी और घरमें जाते हैं तो वहां ठोकर लगती है स्त्रीकी या बहू की या बेटे बेटियोंकी कि अमुक चीज नहीं है । तो क्या करे ? क्या हम ठोकर ही ठोकर खानेके लिये हैं ? तो भाई हैरानीकी कोई बात नहीं है । गृहस्थोंको यो बताया है कि वे जलसे जैसे कमल भिन्न है, उस तरहसे

घर गृहस्थीके बीच रहें। सबको एक तौल तौलोगे तो उलझन मालूम पड़ेगी। किन्तु जो चीज प्रमुख है उसको तो अंतरङ्गमें स्थान दिये रहो और जो बात प्रमुख नहीं है उससे ऊपर-ऊपर निपटते रहो तो कोई उलझन न मालूम पड़ेगी।

विविक्तत्वकी साधना— जलमें कमल रहता है, जलमें ही उत्पन्न होता है, जलमें ही उसकी डंडी है लेकिन जलसे वह थोड़ा हाथ डेढ़ हाथ ऊपर उठा है, जलको छुये हुए भी नहीं है, यों ही यह गृहस्थ इस घरमें ही पैदा होता है, घरमें ही रह रहा है, फिर भी घरसे इसका उपयोग बिल्कुल अलग बना रहा करता है। यह सब ज्ञानी संत गृहस्थकी बात है, अथवा कमलका पत्र बहुत चिकना होता है, वह पानीके भीतर भी पड़ा हुआ है और कोई मनुष्य उसके पत्तेको पानीके भीतर डुबा दे तिस पर भी पत्रमें पानीका प्रवेश नहीं होता। जैसे आरूका पत्ता, महुवाका पत्ता ये पानीमें छू जाये तो भी कुछ देर तक इन पर पानी भलकता है, चिपका रहता है किन्तु कमलपत्र पर पानी इस तरहसे ढलकता है जैसे कि पारा किसी जगह ढलकता रहता है। जलमें रहता हुआ भी जलसे भिन्न कमल है और कमलपत्र है। इसी तरह जिसने अपने आपमें इस कारण समयसार सहजस्वभावी आत्मतत्त्वका दर्शन किया है ऐसा पुरुष बाह्यपदार्थोंमें रमता नहीं है। वह अपने आपके अंतकी साधनामें रहता है।

आनन्द और क्लेश पानेकी पद्धति— आत्माके भ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख आत्मज्ञानसे ही शांत हो सकता है। यहां ऐसे शास्त्रके उपदेशमें चोटें नहीं लगतीं किन्तु विश्राम मिल रहा है, शांति मिलती है, अनाकुलता जगती है। मोह ममताकी वृत्ति जहां नहीं रहती है वहां ही आनन्द हुआ करता है। तो एक आत्मज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। जो पुरुष इस आत्मज्ञानमें प्रयत्न नहीं करते हैं वे दुर्धर तप भी तप ले, फिर भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होते। जिस बातकी जो पद्धति है वह बात उसी पद्धतिसे होती है। एक किसी पुरुषने एक देवताकी आराधना की। देवता प्रसन्न होकर कहता है कि मांग लो जो मांगते हो। वह बोला महाराज मेरे एक भी पुत्र नहीं है सो एक पुत्र हो जाय। अच्छा ऐसा ही होगा। अब वह पुरुष घर आया। सोचा देवता ने कह तो दिया है कि पुत्र होगा। तो अब अपन क्यों पाप करें ? क्यों मन मलिन करें ? सो वह ब्रह्मचर्यसे रहने लगा। दो चार वर्ष इसी तरह हो गये। आखिर पुत्र न हुआ तो वह देवता से उलाहना देने फिर आया। आपने पुत्र होनेको कहा था क्या न होगा ? तब देवता कहता है, अरे संसारकी बात संसारके ढंगसे है, मुक्तिकी बात

मुक्तिके ढंगसे है।

संसारपद्धति व मुक्तिलाभकी रीति— कोई रत्नत्रयका पालन करके चाहे कि मैं संसारमें भटक लूँ तो कैसे भटक सकता है? कोई मिथ्यात्व की वासनामें रहकर चाहे कि मै कर्मोंसे मुक्ति पा जाऊँ तो यह कैसे हो सकता है? संक्लेश पाना हो तो उसका उपाय है कि भ्रम किये जावो? और शांति चाहते हो तो उसका उपाय है कि सबसे विविक्त ज्ञानमात्र अपने आत्माके परिचयमें रहो। जो भावे सो करो। किन्तु तत्त्व यह ऐसा ही है कि जितना क्लेश है वह सब आत्माके भ्रमसे है।

विशदपरिज्ञानका उपाय अनुभव— भैया! और विशेष क्या कहा जाय, यह तो आत्मतत्त्वकी बात है— खाने पीनेकी बात भी हम क्या कोई भी किसीको समझा नहीं सकता। कोई बता ही दे, समझा ही देवे कि मिश्री कैसी मीठी होती है? कोई कहे कि मिश्री मीठी होती है। जिसने मिश्री कभी चखा ही न हो वह इसका अर्थ ही नहीं जान सकता है। युक्ति भी बताई जावे कि देखो तुमने कभी गन्ना चूसा है ना? हां हां, बड़ा मीठा होता है। तो जितना मीठा गन्ने का रस होता है उससे कई गुणा मीठा निकला हुआ रस होता है। जितना मीठा रस होता है उससे कई गुणा पकाया हुआ रस (राब) होता है और जितना मीठा राब होता है उससे कई गुणा मीठा गुड़ होता है, क्योंकि घन बनता जा रहा है। जितना मीठा गुड़ होता है उससे कई गुणी मीठी शक्कर होती है क्योंकि उस गुड़का मैल निकलने पर शक्कर हुई और जितनी मीठी शक्कर होती है उससे कई गुणी मीठी मिश्री होती है, क्योंकि शक्करमें से भी मल निकल गया तब मिश्री बनी। अब समझे कि मिश्री कितनी मीठी होती है? वह तो कह रहा है कि हम नहीं समझे अभी तक। अरे तो मिश्रीकी डली मुख पर धर दो तो झट समझ जायेगा कि कैसी मीठी मिश्री होती है?

आत्मतत्त्वके विशदप्रकाशका उपाय आत्मानुभव— इसी प्रकार इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव अनन्त आनन्द प्रदान करने वाला अनुभव होता है। समझे? नहीं, अभी तो नहीं समझे। देखो जितने देव हैं, जितने इन्द्र हैं, जितने चक्रवर्ती हैं, जितने राजामहाराजा हैं, जितने भूत कालमें हो गये हैं और जितने भविष्यकालमें होंगे वे सब जितने सुख भोगते हैं, उन सब सुखोंको एकचित्र कर लिया जावे, उनसे भी अनन्तगुणा आनन्द एक निज ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें होता है। समझे? नहीं, अभी तो नहीं समझ पाये। तो समझाना किसी दूसरेके वशका नहीं है। खुद ही इतना विवेक रक्खा करे कि जगत्के समस्त बाह्यपदार्थ भिन्न हैं, उनसे मेरा कुछ

सम्बन्ध नहीं है, न सुख होता है। सभी स्वतंत्र हैं, अपना-अपना परिणमन करते हैं। इतना सा ही विश्वास करके इतनी हिम्मत बना लीजिए कि बाहर कहीं कुछ हो, मैं किसी को भी अपने उपयोगमें स्थान न दूगा। किसी का ख्याल आता हो उस ख्यालको झट दूर करें। किसीका मुझे ख्याल आता हो तो उससे मुझे मिलेगा क्या ? ये तो सर्व परद्रव्य ही हैं। कोई अपने उपयोगमे किसी भी बाह्यपदार्थको न आने दे, एक इस बात पर ही अड़ जाय। कोई पदार्थ इसके ख्यालमें न आये, ऐसी स्थिति यदि बन सकती है तो स्वतः ही अपने आपमे उस ज्ञानस्वरूपकी झलक होगी और वह खुद उस ज्ञानानुभवका आनन्द पा लेगा। फिर दूसरेसे पूछनेकी जरूरत भी नहीं है।

ज्ञानके अभ्युदयमें आनन्दका विकास— भैया ! ज्ञानस्वरूप ज्ञानानन्द को प्रकट करता हुआ ही उत्पन्न होता है। एक कहीं उदाहरण दिया है कि एक बहू थी, उसके गर्भ था। बच्चा होनेका समय था, सो वह बहू अपनी साससे कहती है कि सासू जी मै सोने जा रही हूं, बच्चा हो जाय तो मुझे जगा लेना, कहीं ऐसा न हो कि बच्चा हो जाय मुझे पता ही न पडे। तो सास कहती है अरे बच्चा उत्पन्न होगा तो तुझे जगाता हुआ ही उत्पन्न होगा। यो ही यह ज्ञानका अनुभव जब उदित होगा तो उस अनन्तआनन्द को जगाता हुआ ही उदित होगा। फिर पूछनेकी जरूरत नहीं है कि मैंने ज्ञानका अनुभव किया या नहीं किया, मुझे आनन्द आया या नहीं आया। ज्ञान और आनन्दका बड़ा मैत्री भाव है। आनन्दके बिना ज्ञानका विलास नहीं और ज्ञानके बिना आनन्दका विलास नहीं।

अज्ञानचेष्टा व ज्ञानकलाका प्रताप— जो रागद्वेष ममतासे भरी हुई कल्पनाएँ हैं उन्हें ज्ञान नहीं कहा करते हैं वे सब अज्ञानकी चेष्टाएँ हैं। जो ज्ञान निज ज्ञानके स्वरूपको जाना करे, ऐसे ज्ञानकी वृत्तिका नाम ही परमार्थतः ज्ञान परिणमन है। ऐसा आत्मज्ञान जिसके जगा तो नहीं है किन्तु मैं साधु हूं, मैं मुनि हूं, मैं व्रती हूं, मुझे ऐसा तप तपना चाहिए, मुझे ऐसा करना चाहिए, ऐसी वृत्ति रखता हो और अनुभवके अनुसार न चलता हो ऐसा ज्ञानहीन पुरुष तप तप करके भी निर्वाणको प्राप्त नहीं होता। इसको कौन सिखाने आता है कि तू ऐसी चाल चल। इसी प्रकार इस ज्ञानीपुरुषको कौन सिखाने आता है कि तू ऐसी चेष्टा कर। ज्ञानके होने पर मन, वचन, काय कैसे चलना चाहिए ? यह स्वभावतः उसके कला प्रकट हो जाती है।

ज्ञानकला पर योग्यवृत्तिका स्वतः शृङ्गार— एक राजा मर गया। राज्य रानीको दे दिया गया। उसका पुत्र छोटा था। वह राजपुत्र जब बड़ा हुआ तो उसकी मांने सोचा कि अब राज्यका कार्यभार पुत्रको सौंप देना चाहिये। माने अपने पुत्रको दसों बातें सिखा दीं कि बेटा! राजदरबारमें यदि ऐसा पूछा जाये तो ऐसा उत्तर देना, ऐसा पूछा जाये तो ऐसा उत्तर देना। राजकुमार बोला कि मां! इनमेंसे यदि एक भी प्रश्न न पूछा गया तो क्या उत्तर दूंगा? मांने कहा कि बेटा! अब तू जरूर किसी भी प्रश्नका उत्तर दे लेगा। जब तेरेमें यह समझ है कि यदि इनमेंसे एक भी प्रश्न न पूछा गया तो क्या उत्तर दूंगा? तो तू जरूर उत्तर दे लेगा। राजपुत्रको राजदरबारमें बुलाया गया। बादशाहने पूछा कुछ भी नहीं, किन्तु दोनों हाथ उस राजपुत्रके पकड़ लिये और बोला अब तू क्या करेगा? राजपुत्र बोला, कि महाराज! अब तो मैं पूर्ण रक्षित हो गया। शादी में पति पत्नी का केवल एक हाथ पकड़ लेता है तो उस पतिको उस पत्नीकी सारे जीवन भर रक्षा करनी पड़ती है। आपने तो हमारे दोनों ही हाथ पकड़ लिये, फिर मेरी तो पूर्णरूपेण रक्षा हो गई। राजपुत्रके इस मर्म भरे उत्तरको सुनकर बादशाह प्रसन्न हुआ और उसको राज्यभार सौंप दिया। तो ऐसे ही जब इस आत्मज्ञानकी कला प्रकट हो जाती है, तब योग्यवृत्तियां स्वयं हो जाती हैं। आत्मज्ञानका कितना महत्त्व है? हमारे आपके लिये यह आत्म ज्ञान ही हितकर है।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥४२॥

अज्ञानीकी पहुंच— अज्ञानी जीव अर्थात् जिसको शरीरमें यह मैं हूं—ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई है वह बड़े घोर तपको भी करता है तो भी चूंकि उसके शुद्ध ज्ञानविकासमात्र मोक्षतत्त्वमें प्रतीक्षा नहीं है—इस कारण सभी शरीरोंको, दिव्यभोगोंको चाहता है। धर्म करवे, तप करवे, व्रत आदिक करके मेरी पहुंच देवगतिमें उत्पन्न होगी, इन्द्र बनेंगे और दिव्य-भोग मिलेंगे, यहां तक ही अज्ञानीकी पहुंच हुआ करती है।

अज्ञान तपमें बैकुण्ठके सुखका आशय— ऊर्ध्वलोकमें सबसे ऊँचे स्थानमें जहां तक कि मिथ्यादृष्टि जीव भी जा सकता है, तपस्या करके वह स्थान है बैकुण्ठ। बैकुण्ठ कहो या अपभ्रंशमें बैकण्ट कहो, ग्रैवेयक कहो। ग्रैवेयक भी बैकुण्ठका ही नाम है। बैकुण्ठका भी अर्थ कण्ठका स्थान है और ग्रैवेयकका भी अर्थ कण्ठका स्थान है। तीनों लोकों की रचनामें ग्रैवेयक कण्ठके स्थान पर पड़े हैं। जहां कण्ठका स्थान है, वहां ग्रैवेयक

का स्थान भी है।

मिथ्यादृष्टि जीव भी तपस्या करके ग्रैवेयक तक में उत्पन्न होता है, वहां शुभ शरीर है, वैक्रयिक शरीर है। जहां हाड़मास, मज्जा, धातु उपधातु नहीं है, जहा कभी पसीना नहीं आता, बदबू नहीं आती— ऐसे वैक्रियक शरीर हैं। जिस शरीरसे अनेक शरीर रचनाएँ करलें—ऐसे शुभ शरीर हैं और भोग भी दिव्य हैं। जहां तक याने ग्रैवेयकसे नीचे कल्प तक देवांगणाओंका संसर्ग है, वहा तक दिव्यभोग हैं और उससे ऊपर मानसिक, शारीरिक उपभोग हैं। उनको ये अज्ञानीजन तपस्या करके चाहते हैं।

पूंजीसे बहुत कम मांगकी पूर्ति— जैसे किसीके पास धन बहुत है, कोई लखपति है और वह किसीसे १०० रुपये उधार मागे तो जो चाहे दे देता हैं। हैसियतसे अधिक कोई उधार चाहे तो उसे कैसे मिलेगा? इसी प्रकार तपस्या करके जिसने परिणाम विशुद्धि अधिककी है, पुण्य बांधा है, उससे कम निदान बांधे तो जल्दी मिल जाता है। जैसे कोई साधु तपस्या करके मांगे कि अमुक सेठका पुत्र होऊँ तो तप करनेके फलमें उसके मांगने की पूर्ति हो जाती है। कहीं ऐसा नहीं है कि जो मांगे, सो मिल जाये। गांठमें अधिक पुण्य हो और थोड़ी चीज मांगे तो उसे वह चीज मिल ही जायेगी। पुण्य तो विशेष नहीं है और मागे अधिक बात तो कहांसे मिल सकेगी?

अज्ञानी और ज्ञानीकी आकांक्षा— अज्ञानी जीव तपस्या करके इन चीजोंको चाहता है, जब कि तत्त्वज्ञानीजीव इन सब झंझटोंसे छुटकारा चाहता है। चारों गतियोंमेंसे कोई भी गति मेरे न रहे। सर्व इन्द्रियजातियोंमेसे कोई भी इन्द्रियजाति मेरी न रहे। कोई काय, योग, वेद, कषाय आदि मेरे न रहें। तत्त्वज्ञानी जीव इन सब झंझटोंसे अपना अलगाव ही चाहता है। जब तक सहज ज्ञानस्वरूप निजआत्मप्रकाशका अवलोकन नहीं होता है, तब तक यथार्थ उद्देश्य बन ही नहीं सकता। इस निज कारणसमयसार के परिचय बिना यह कुछ चाहेगा तो क्या चाहेगा? इन्हीं सब लौकिक सुखोंको। लौकिक सुखोंमें कोई भी सुख ऐसा नहीं है कि जो इस जीवके शान्तिका कारण हो।

जिस किसीसे राग हो, वह यदि बहुत सुभग है, प्रिय है तो जितना अधिक वह प्रिय होगा, रागका बन्धन, रागका क्लेश उतना ही अधिक होगा। जिन लोगोंके वैभव सम्पदा, परिजन, कुटुम्ब, इज्जत, पोजीशन— ये सारी चीजें हैं, उनको कितनी बड़ी बड़ी विपत्तियां हैं, ये तो वही जान

सकते हैं।

ज्ञानीके अहितसे बचावका यत्न—और भी देखो भैया! जैसे कोई विडम्बना हो जाने पर यह पुरुष उससे बचना चाहता है, प्रभुसे मनोती भी मनाता है, कुछ धर्मध्यानमें जी चाहता है—ऐसे ही तत्त्वज्ञानीपुरुष समृद्धि मिलने पर, प्रशंसा मिलने पर, हर प्रकारके लोकसम्मान मिलने पर यह उन्हें विपदा समझकर उनसे बचना चाहता है और निःसंग आत्मतत्त्वकी शरणमें आना चाहता है। दृष्टिभेदका सारा प्रताप है। कितने ही पुरुष, कितने ही साधुजन बड़ी ऊँची साधना करनेके बाद भी रागद्वेष आ जाये तो ऐसा बंध बांधते हैं कि मै अमुकका बैरी बनकर इसका घात करूँ, अपनी उतनी बड़ी साधना को यों ही खो देते हैं।

हमारी आपकी साधना—हम और आप भी धर्मके लिये जितना जो कुछ करते हैं, वह सब एक साधना है। उस साधनामें हमारी कषायें मन्द हों और उस साधनाके एवजमें हम दूसरोंका कुछ न चाहें—ये दो बाते रहें तो हमारी यह धर्मसाधना है। पूजा करना, सामायिक करना, स्वाध्याय करना आदिक जो कुछ भी धर्मसाधना किया करते हैं, वह लाभदायक है। इस धर्मसाधनाको करके कुछ भी चाह करना—यह बिल्कुल ही बेकार है। जैसे कोई इसलिये दर्शन करे, पूजा करे कि लोग समझें कि हां यह भी धर्मात्मा हैं। यदि इस उद्देश्यको रखकर श्रम किया तो जो उद्देश्य बनाया है, जो सस्कार बनाये हैं, वे ही तो उसके अन्दर चले, फिर तो उसे पुण्यका बन्ध नहीं होता है। मौनसे स्तवन करनेमें, पूजन करनेमें इस दोषका प्रसंग नहीं आ पाता है। जैसे कि मानों बोलकर स्तवन कर रहे हों तो अभी अकेले ही थे, जल्दी जल्दी जैसा चाहे बोल रहे थे, अब आ गये दो चार बाबू लोग, सेठ लोग तो उनको देखकर बहुत संभालकर बोलने लगे, धीरे धीरे रागसे बोलने लगे तो उसने प्रभुकी पूजाको छोड़ दिया और बाबूजी की, सेठकी की पूजा शुरू कर दी, क्योंकि उन लोगोंको अपने को अच्छा बताने की चेष्टा हो रही है।

मौनकी प्रयोजकता—भैया! सात स्थानोंमे जो मौन बताया गया है, उस मौनका बहुत मार्मिक प्रयोजन है। पूजा करनेमें भी मौन बताया है। कल्पना करो कि गिरजा जैसा रिवाज अपने मदिरोंमें भी होता कि वेदीमे पैर रक्खा तो सबके सब मौनसे मन्दिरमें आयें, मौनसे दर्शन करें, मौनसे पूजन करें तो चाहे दसों बीसों पुरुष भी दर्शन, पूजन कर रहे हों तो किसीसे किसी दूसरेको बाधा नहीं आ सकती। दूसरे उन पूजा करने वालों का भी यह भला होगा कि दर्शकोंको देखकर मनमें कोई मायाचारकी

बात न आ सकेगी कि अब संभालकर बोलने लगें तो उनमें भी कितने ही गुण हैं। अन्य स्थानोंमें भी मौन रक्खा है, सर्वत्र मौनमें धर्मोन्मुखी मर्म है।

अज्ञानीका उद्देश्य व रमण— तपस्या करके, साधना करके कुछ बाहरी बातोंकी चाह कर लेना यह इस जीवके अकल्याणके लिए है। यह अज्ञानी जीव घोर तप करके भी शुभ शरीर और दिव्य भोगोंको चाहता है। यह तो परलोकके चाहनेकी बात हुई, किन्तु आजकल बहुतसे संन्यासी जन कांटों पर पड़कर, औंधे लटक कर कैसी ही तपस्या करके केवल यह चाहते हैं कि लोग २-४ पैसे धर जायें, फेंक जायें। उन्होंने इस लोकके वैभवकी चाहमें ही अपने तप और श्रममें साधनाको समाप्त कर दिया। क्या करें अज्ञानी जीव ? ज्ञानी जिसमें रमते हैं उसका तो पता नहीं और रमनेका स्वभाव इस आत्मामें पड़ा हुआ ही है। कोई जीव किसी बातमें रमे बिना न रह सके ऐसा हो सकता नहीं है। अपना पता हो तो अपनेमें रमेगा, न अपनेका पता हो तो किसी परविषयमें रमेगा, किन्तु रमनेकी प्रकृति कैसे छूटेगी? इस ज्ञानीजीवको यदि आत्मस्वभावका परिचय नहीं है तो रम नहीं सकता। अब बाहरमें दृष्टि है तो बाहर ही बाहर रमेगा। उस अज्ञानीको बाहरमें ही सारा सार दीखता है।

अटपट तमासा— पहिले ऐसे सिनेमे आते थे जो बोलते न थे, केवल चित्र ही पर्दे पर आते थे। देख तो लो मगर कुछ अटपटासा लगता था। ओंठ तो चल रहे हैं लगता है कि एक दूसरे से बोल रहे हैं, मगर उसमें कुछ तो ऐसा लगता था कि यह तो कुछ खेलसा हो रहा है, कुछ अटपटासा काम हो रहा है। यों ही ज्ञानी पुरुषको यह सारा दृश्य अटपटा सा दीखता है। कोई किसी को कुछ कहता ही नहीं है। जो कोई कुछ यत्न करता है या अपनी चेष्टा करता है वह अपनेमें ही करता है। कोई किसीमें कुछ कर ही नहीं सकता। कोई किसी अन्यसे राग कर ही नहीं सकता। सब अपनी-अपनी ढपली बजाते हैं, अपना-अपना ही विकार किया करते हैं। जैसे उस सिनेमाके चित्रमें यह साफ दिख रहा है कि यह इससे कुछ कह ही नहीं रहा जो न बोलता हुआ सिनेमा हो। जैसा उसमें लगता है ऐसा ही इस संसारके सिनेमामें ज्ञानीको यों ज्ञात होता है कि यों ही सब हो रहा है। कोई किसीका कुछ करता ही नहीं है। सब अपनी-अपनी चेष्टा करके समाप्त हो जाते हैं। ये सब उसे असार नजर आते हैं, फिर इनकी चाह ज्ञानी कैसे करे ? तत्त्वज्ञानी जीव तो उन सब साधनों से, विषयोंसे छुटकारा चाहता है।

मनचाही बातकी तुरंत सिद्धिका अभाव— भैया ! और भी विचारो क्या मनचाही बात यहां किसकी हो सकती है ? लोकमे ऐसा कोई पुण्य नहीं है, ऐसा कोई पुण्यवान् नहीं है जो मनचाही बात बोले और तुरन्त सिद्धि हो जाय। बड़े दृष्टान्त देंगे चक्रियोंके और तीर्थंकरोंके, उनका पुण्य इतना विशाल है कि जो उनकी चाह हुई तुरन्त पूर्ति हो जाती है, पर वहां भी ऐसा नहीं है। सिद्धान्त देखो--मनचाही बात तुरन्त पूरी हो जाय ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। पूरी हो जाय, इतना अंश अभी अलग रक्खो। तुरन्त मनचाही बात हो जाय यह कहीं भी नहीं हो सकता। मनमें चाहा कब और बाहरमे परिणमन हुआ कब--इन दो बातोमे बहुत अन्तर काल पड़ा हुआ है। जैसे आपकी मनचाही बात तीन घंटेमे बन जाय तो आप कहते हैं कि मेरी मनचाही बात तुरन्त हो गयी। किसी की घंटा भर में हुई तो वह भी तुरन्त शब्द कहता है। किसीकी १० मिनटमे हो जाय तो वह भी तुरन्त शब्द कहता है, पर यह बात है क्या ? इसमे तो इतना अन्तर पड़ा हुआ है और जिसके सेकेण्डमे भी हो जाय उसके भी तुरन्त नहीं है। वेद्यभाव और वेदकभाव यह उभय एक समयमे नहीं होता है एक ही विषयमे जब चाहा तब बात नहीं, जब बात है तब चाह नहीं। आपने चाहा कि आज १००) की आय हो तो जिस समय यह चाह है क्या उस समय १००) की आय हुई ? नहीं हुई। होती, तो इस प्रकारकी चाहका ढाचा ही नहीं बन सकता, तो मनचाही बात तुरन्त हो जाय, ऐसा पुण्य होता ही नहीं है।

समस्त मनचाही बातका अभाव— अब दूसरी बात देखो— मोटे रूपमें ऐसा सोच सकते हैं कि हम जो चाहते हैं वह पूरा होता है। दिन भरमें आपकी चाहें तो लाखों हो जाती होंगी। २४ घंटेमें लाखों चाहें हो जाती हैं। कुछ तो आपकी पकड़में आती हैं व कुछ हो जाती हैं और कुछ झक मारकर यों ही खिर जाती हैं। लाखो चाह होती हैं, कौन-कौनसी चाह पूरी हो। लेकिन यह अज्ञानी जीव चाह करता है और तपस्या करके भी लौकिक सुखोंकी चाह करता है।

ज्ञानीका अन्तःप्रसाद व बाह्यपरिहार— जिसने निज ज्ञानस्वरूपके अनुभवका आनन्द पाया है वह संसारके सर्वसुखोंको हेय समझता है। यह सब कुछ सार नहीं है। जैसे जिस लड़के को नींद आ रही है और जमीन पर सोया हुआ है और उस लड़केका बाप मानों शास्त्र सुनने बैठा है। शास्त्र समाप्त होनेके बाद घर जायेगा ना, तो वह लड़केको उठाता है चल रे। तो वह उसी नींदमें एक दो थप्पड़ मार देता है—कहेगा कि हम

को तो यही अच्छा लगता है, हमको नहीं जाना है। यह तो उसकी नींदकी बात है, किन्तु जिस ज्ञानी को अपने ज्ञानसुधारसके पानके अनुभवका आनन्द आया है, ऐसे ज्ञानीको कर्मोदयकी प्रेरणावश जाना भी पड़े घरमें, दुकानमें, लोगोंमें तो वह पसंद नहीं करता। हमको नहीं जाना है, बचना चाहता है, किन्तु अज्ञानी जीव चाह-चाह करके इन पौद्गलिक वैभवोंमें, इन मायारूपोंमें अपनेको लगाया करता है।

थिता दुगसका फेर— अहो, अन्तरङ्गमें ही थोड़ी उन्मुखता और विमुखताके जरासे फेरमें इतना बड़ा अन्तर आ जाता है कि एक तो संसारमें इतना विस्तार बनाया करता है और एक अपने आपमें विश्रांत होने का यत्न किया करता है। उपयोग तो यहीं है और यह उपयोग आत्मप्रदेश से बाहर भी नहीं जाता, किन्तु अपनी ओर उन्मुख रहे जिसे कहते हैं निशाना लगाना यह उपयोग अपनी ओर निशाना लगाये तो इसकी मुक्ति का मार्ग बनता है और अपने से बाहरकी ओर निशाना लगाये तो यह संसारमें रुला करता है। भीतर ही एक उपयोग पेंचको भिन्न-भिन्न दिशा के अभिमुख किये जाने का यह सारा विस्तार है कि यह संसारमें रुलेगा या मुक्तिके निकट होगा। यह जीव केवल परिणाम ही कर सकता है, किसी परपदार्थमें कुछ परिणमन नहीं कर सकता है। केवल परिणामोंसे ही अपनी सारी चेष्टाएँ बनाया करता है और इतना ही नहीं यह बाह्य ढांचा, पौद्गलिक शरीर, ऐसे बंधन, ये सारे ऐब भी आ जाते हैं केवल एकमात्रके करने पर। यहां उपयोग प्रदेशमात्र भी हुमसा नहीं है, फिर भी यह फेर हो जाता है।

चेतन प्रभुके विभावसे असमानजातीयद्रव्यपर्यायकी सृष्टि— कैसे बन जाता है यह शरीर? कैसे बन जायेगा यह मनुष्य? अभी मनुष्य बना है, कुछ समय बाद गाय बैल बन जाय, कुछ समय बाद सांप बिच्छू बन जाय तो अचरज होता है कि आकाशवत निर्लेप ज्ञानानन्दस्वभावमात्र यह आत्मा क्षणमें ही क्यासे क्या बन गया, कैसे बन गया? यह तो केवलभाव ही करता है। इसने भाव ही किया। अब निमित्त नैमित्तिक पद्धतिमें जो कुछ होने को है वह हो ही लेगा।

दृष्टान्तपूर्वक सृष्टिमें विभावकी निमित्तकारणताकी सिद्धि— जैसे बरातोंमें फटाका अनार आदि छोड़े जाते हैं तो वे तैयार किये हुए लाये जाते हैं। वहां तो केवल थोड़ी किसी जगह आग छुवा दी, फिर कैसे दगेगा वह, कैसा उसका विस्तार होगा अब सारी बातों में इस पुरुषकी क्या करतूत है? कुछ नहीं। यह तो आग छुवा कर अलग हो गया, अब जो

होता है निमित्त-नैमित्तिक पद्धतिसे स्वयमेव हो जाता है। छूट गया फटाका आकाशमें चला गया, रंग बिरंगे आगकी कणोंमें फैल गया। जो हो, उसमें अब यह पुरुष क्या करे? वह हो गया। ऐसे ही जानों कि इस जीव ने तो एक परिणाम भर बनाया, किसी भी प्रकारका परिणाम करे। अब परिणाम होनेके बाद स्वतः ही जैसा निमित्तनैमित्तिक पद्धतिमें राग है, कर्म-बन्ध हुआ, उदय हुआ, आहारवर्गणा हुई, उसके अनुसार शरीर बना, रूपक बन गया।

कैसा हो गया यह जीव पेड़ोंके रूपमें, कीड़ोंके रूपमें, मनुष्योंकी शकलमें, भिन्न भिन्न प्रकारसे कैसे हो गया? जब जानवरोंके अजायबघर में जावो तो कैसे विभिन्न जानवर मिलते हैं? जिनको कभी देखा न हो। कैसे बन गए ये सब मायारूप? बन गए। इसमें कारण है जीवका परिणाम। जीव परिणामभर करता है और उस परिणामके फलमें स्वयमेव ये सब मायारूप बन रहे हैं।

अज्ञानी और ज्ञानीकी चेष्टावोंके प्रयोजन—ये अज्ञानी जीव घोर तप करके भी शुभ शरीर और दिव्यविषयोंकी चाह करते हैं। जैसे आज-कल भी बहुत से लोग ऐसे हैं कि जिनसे पूछो कि काहे के लिये तुम इतने व्रत करते हो, तपस्या करते हो? तो उत्तर मिलेगा कि अच्छी गति मिलेगी, देव बनेंगे, इन शब्दोंमें कहने वाले आज भी मौजूद हैं। ऐसे बहुत कम विरले पुरुष होंगे, जिनसे पूछो कि भाई किस लिये तुम तप करते हो, व्रत करते हो, साधना करते हो? समाधानमें यह उत्तर मिले कि मैं ज्ञानमात्र हूं—ऐसा ही अनुभव करना है, इसके लिये ये सब काम किये गए हैं। धर्मके जितने भी कार्य हैं, उन सब कार्योंका प्रयोजन परमार्थतः यह है कि यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपका ज्ञान करता हुआ ही बना रह सके। इससे आगे मुझे और कुछ नहीं चाहना है और भी बहुत सूक्ष्म-दृष्टिसे पूछो उनसे कि क्यों जी, तुम आत्मस्वरूपको किसलिए जानना चाहते हो? तत्त्वज्ञानी पुरुषका यह उत्तर मिलेगा कि हम तो इस आत्म-स्वरूपको जानते रहनेके लिए ही जानना चाहते हैं, देवगति मिले—यह उत्तर उसका न होगा, मोक्षका सुख मिले, यह उत्तर उसका न होगा, किन्तु जो यथार्थतत्त्व है, वह यथार्थतत्त्व जाननेमें बना रहे, इतने ही प्रयोजनके लिए हम इसे जानना चाह रहे हैं।

कर्तव्यसूचना—यों यह तत्त्वज्ञानी जीव इन सब परभावोंसे अलग होना चाहता है, जिन परभावोंकी चाह यह देहात्मबुद्धि प्राणी अज्ञानी किया करता है। इस प्रकरणमें जो अज्ञानीके प्रसंगकी बात हो, यों मम-

झना उसे हेय है। जो ज्ञानीके प्रसंगकी बात है, वह उपादेय है, यों समझना। तपश्चरणके द्वारा इन्द्रिय और कषायों पर विजय पाकर अपने ध्येयकी सिद्धि करना चाहिए, न कि बाह्यपरिग्रहोंके संयोगकी इच्छामें ही डूबना चाहिए।

परत्राहमतिः स्वस्मात्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहं मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

मुक्तिकी उत्सुकताकी प्रकृति— इस श्लोक में यह बताया गया है कि कौन जीव बँधता है और कौन जीव छूट जाता है। बंधन सबसे कठिन विपदा है व छूटा हुआ होना सबसे विलक्षण सम्पदा है। कर्मोंसे छूटा होना, संसारके संकटोंसे छूट मिलना, इसका नाम है मोक्ष। कभी देखा होगा कि स्कूलमें टाइम पर या टाइम से पहिले जब मास्टर कह देवे जावो छुट्टी है तो लड़कोंको कितना आनन्द आता है, सारा स्कूल गूंज जाता है। उन लड़कोंके हाथ पैर कहींके कहीं पड रहे हैं, एकदम भाग दौड़ मचाकर आते हैं। उनसे पूछो कि तुमको यह खुशी किस बातकी है? कोई मिठाई मिली है या और कोई इनाम मिला है? मिला कुछ नहीं, पर छुट्टी होनेसे स्वयमेव आनन्द आता है।

बछड़ा बन्धा हो खूँटेसे, वह गिरमावो खींचकर भागना चाहता है, उसमें वह कष्ट मानता है। जिस समय उसका बन्धन खोल दिया जाए तो कैसा वह उचक कर भागता है? छुट्टी मिलनेमें बडा आनन्द है, आप ही अन्दाज करलो सुबह के समय, यद्यपि पढ़ाई आप लोग मनसे करते हैं, पर जब कह देते हैं कि आजकी छुट्टी तो भीतरमें कुछ खुशी होती है कि नहीं? हालांकि जानते हो कि ६ बजे बाद चले जायेंगे, मगर उस छुट्टीके शब्दको सुनते ही कुछ फर्क आ जाता है।

दुर्लभ अवसर न चूकनेकी स्मृति— कर्मका बन्धन, शरीरका बन्धन अनादिकालसे भोगा जा रहा है। कैसा भवितव्य होगा, वह कब भवितव्य होगा कि इस जीवका अनादिकालीन भी सकट छूट जाएगा? उस मुक्तिसे बढ़कर और क्या वैभव होगा? यह जीव निगोदसे निकलकर, अन्य स्थावरोंसे निकलकर विकलत्रय अर्थात् दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव रहा। इन तीनोंसे निकलकर, पञ्चेन्द्रियमें से अन्य खोटे भवोंसे ही निकलकर आज यह मनुष्य हुआ है, पर मनुष्य होकर विषयवासनाओंमें बेसुध होकर जीवन गँवाये तो मनुष्य होनेका लाभ क्या हुआ?

विषयानुरागके खेलसे क्षति— एक सेठ जी थे। वे राजाके बड़े ही प्रिय थे। पापोदयवश सेठ निर्धन हो गया। जब बहुत ही कठिन मुसीबत

आयी तो सेठ कहता है कि राजन्, अब तो दिन मुश्किलसे गुजरते हैं। राजाने कहा कि अच्छा कलके दिन तुम्हें दो बजेसे चार बजे तककी आज्ञा देता हूं कि रत्न जवाहरातके खजानेमें जावो और जितने रत्न जवाहरात तुम ला सको, उतने ले आना। खजांचीको भी आदेश दे दिया कि अमुक सेठ २ बजे आएगा और जितने रत्न जवाहरात दो घण्टे में ले जा सके, उसे ले जाने देना। वह पहुंचा दूसरे दिन दो बजे रत्नजवाहरातोंके भण्डार में। तो वे कुछ सीधे ही एक कोठरीमें नहीं होते। कोई विशाल किला हो, महल हो, फिर किसी जगह अन्दर भण्डार होता है। वहां जाकर देखा तो खेल खिलौने बहुत अच्छे थे। उन सुन्दर खिलौनोंको वह देखने लगा। उनको देखते देखते ही २ घण्टेका समय व्यतीत हो गया। चार बजे खजांची ने कह दिया कि जावो समय हो गया।

लौकिक शौर्यके मदसे क्षति— अब रोता हुआ सेठ राजाके पास फिर पहुचा और कहा कि कलके दो घण्टे तो हमारे खिलौने देखने में ही व्यतीत हो गये। राजाने कहा कि अच्छा आज दो बजेसे चार बजे तकके लिए तुम्हें इजाजत देता हूं कि तुम सोनेके भण्डारमें जावो और जितना सोना ला सको, ले आना। खजांचीको भी राजाने आदेश दे दिया। अब वह सेठ दो बजे पहुचा तो देखता है कि बहुत बड़ा महल है और आस-पास बहुत सुन्दर छोटे छोटे घोड़े बँधे हुए हैं। देखनेमे बड़े सुन्दर थे। उस सेठको घोड़े पर चढ़नेका बड़ा शौक था। वह झट एक घोड़ेको पकड़कर उस पर चढ़ गया व उसे चलाने लगा। यों कभी किसी घोड़ेके पास, कभी किसी घोड़ेके पास गया। घोड़ोंको देखते देखते ही उसके दो घण्टे व्यतीत हो गए। अब फिर खजांचीने समय पूरा हो जाने पर उस सेठको निकाल दिया।

कामादिविकार व चिन्ताओंकी उलझनसे क्षति— फिर सेठ राजाके पास पहुंचा और बोला कि महाराज, क्या बतलाएँ, हमारा उदय खोटा है। उस महलमें घोड़े बड़े सुन्दर थे तो उनके निरखनेमे ही सारा समय व्यतीत हो गया। राजाने कहा कि अच्छा तो आज मैं फिर तुम्हें दो घण्टेको इजाजत देता हूं कि चान्दीके भण्डारमें चले जाना, वहांसे जितनी चांदी ला सको, ले आना। वहां जाकर देखा तो बहुत सुन्दर स्त्रियोंके चित्र थे और कुछ पत्थरकी मूर्तियां भी थीं। उन्हें देखकर वह उनमें ही रमसा गया। उस चान्दीके भण्डारमे और क्या बात हुई कि वहां पर कुछ गोरख-धन्धे रक्खे थे, उनको देखनेमें लग गया। कुछ उलझे और कुछ सुलझे। इस प्रकार उनके देखनेमें दो घण्टेका समय व्यतीत हो गया। फिर खजांचीने

सेठको निकाल दिया।

प्रमादसे क्षति— अब सेठ फिर रोता हुआ राजाके पास पहुंचा। राजाने उसे फिर दो घण्टेका समय ताम्बेके भण्डारमेंसे तांबा निकाल लानेके लिए दिया। वहा पहुचा तो देखा कि बहुत सुन्दर स्प्रिंगदार पलँग पड़े हुए थे। सोचा कि इन पर दो मिनट लेटकर देखना तो चाहिए। वह लेट गया। लेटते ही निद्रा आ गई। समय पूरा हो जाने पर खजांचीने उसे वहांसे निकाल दिया। तो जैसे उस सेठने अपना सारा समय व्यर्थ ही खो दिया, इसी तरह यह मनुष्य अपना सारा जीवन यों ही व्यर्थमें खो देता है। किशोर अवस्था खेल खिलौनोंमें ही, उद्दण्डताके कार्योंमें ही खो देता है, फिर कामवासनामें अपना सारा जीवन बिता देता है। मनुष्यभव भी पाया और विषयोंकी वाञ्छा दूर न हुई तो इस मनुष्यभवका क्या किया जाए? ऐसे जीवनको धिक् है।

विषयप्रेमकी तुच्छता पर कविका अलंकार—एक सभामें संगीत हो रहा था, वेश्या नाच रही थी, मृदंग भी बज रहा था, मंजीरा बज रहा था। हरमोनियम भी थी और हाथ पसार पसारकर नाच रही थी। उस समयके दृश्यका वर्णन कवि करता है—

मिरदंग कहे धिक् है धिक् है, मजीर कहे किनको किनको।
तब वेश्या हाथ पसार कहे— इनको, इनको, इनको, इनको॥

यह कोई बरातकी महफिल लग रही होगी, बराती लोग खूब रस ले रहे होंगे, उस समयका वर्णन कविने किया है। यों ही समझो कि यह मनुष्यभव मिला है, श्रेष्ठ तन मिला है तो इस मनके द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्न करके समस्त बन्धनोंको काट सकते हैं। इस मनको दुरुपयोगमें लगा दिया तो उससे आत्मबल भी घट जाता है और पापबन्ध भी हो जाता है। ऐसे मनुष्यजीवनको पानेसे लाभ क्या रहा?

दुर्लभ समागमकी उपेक्षाका फल— देखिए यह नियम है कि यह जीव त्रसकी पर्यायमें साधिक दो हजार सागर के लिए ही आता है, इससे अधिक त्रस पर्यायमें नहीं रह सकता। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रियके भव लगातार चलते रहें तो अधिकसे अधिक ऐसे दो हजार सागर तक चल सकते हैं, इससे ज्यादा नहीं चल सकता। यदि इस अवधिमें मुक्ति न हो सके तो उसे स्थावरोंमें जन्म लेना पड़ेगा। दूसरी कोई गति नहीं है और कुछ विशेष काल उन स्थावरोंमें रहता है। तब भी न निकल सके तो फिर निगोदमें जाना पड़ता है। उस त्रसकालमें भी अधिकसे अधिक मनुष्यकी पर्याय इसको यों तो ८, ८, ८ बारमें २४ पर्यायें

मिलती हैं। पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसक वेदमें, किन्तु मनुष्य हुए और पशुपक्षियोंका जैसा जीवन गुजारा तो नम्बर ही तो कट गया और कदाचित् आखिरी समय हो मनुष्यका तो इतना समझ लेना चाहिये कि कुछ काल बाद स्थावरोंमे जन्म लेना पड़ेगा।

व्यामोहमे प्राप्त निधिका अलाभ— मनुष्यभव बहुत दुर्लभ है। सभी लोग गाते हैं, किन्तु इसका मूल्य नहीं आंकते। यहां तो ऐसी प्रकृति है कि जिसे जो कुछ मिला है, उसका वह मूल्य नहीं करता। जैसे जो आज दो लाखका धनी होगा, वह दो लाख कुछ नहीं समझता और मनमे जानता है कि मुझे कुछ नहीं मिला। मुझे तो करोड़पति होना चाहिए। जिसे जो भी कुछ मिला है, उसे वह कहता है कि मुझे कुछ नहीं मिला। अरे, बहुत कुछ मिला है। जिसे जो मिला है, वह आवश्यकतासे अधिक मिला है, परन्तु मोहमे ऐसा अनुभव करते कि मुझे कुछ नहीं मिला है। करीब करीब जितने यहां बैठे हैं, सबको आवश्यकतासे अधिक मिला है। मानों जिसके पास जो है, उससे आधा होता तो क्या उसमें गुजारा न होता ? करेंगे तो सब कुछ, करते ही हैं, लेकिन ऐसी भावना क्यों नही आती कि हमें तो जरूरत से भी ज्यादा मिला हुआ है। फिर हम आगेके लिए क्यों तृष्णा बनायें ? इसी स्थितिमें धर्मके लिए, ज्ञानार्जनके लिए सद्गोष्ठीका, सत्संगका लाभ लेनेके लिए समय व्यतीत होना चाहिए।

बन्धनोंमे व्यग्रता— भैया ! बन्धन और मुक्ति दोनो तत्व परस्पर विरुद्ध हैं। बन्धनसे तो क्लेश हैं और मुक्तिसे आनन्द है। अभी किसी बालकसे कहें कि बेटा, यहीं दो घण्टे तक बैठना तो उसका मन न चाहेगा कि हम यहां बैठ जायें, क्योंकि बन्धन महसूस किया ना। वैसे चाहे चार घण्टे तक बैठा रहे, पर एक बन्धनरूप वचन कह देने पर वह रह ही नहीं सकता है। प्रत्येक जीवको मुक्त होनेमें आनन्द माननेकी आदत पड़ी हुई है। यह जीव सही मायनेमें मुक्त कैसे होता है और यह बँधता कैसे है ? इन दोनोंका स्वरूप इस श्लोकमे बताया गया है। जो जीव परपदार्थमें है, यह मैं हूं, यह मेरा है —ऐसा बताया करता है, वह निःसंशय परपदार्थोंसे बन्ध जाया करता है और जो अपने आपमे 'यह मैं हूं' ऐसी बुद्धि रखता है, वह परपदार्थोंसे छूट जाता है।

परसे शांतिकी असंभवता— इस अशरण संसार में कौनसा बाह्य पदार्थ ऐसा है कि जिसकी आशा करें, उपासना करें, अनुराग करें तो उससे शांति मिल सके ? जरा छटनी करके बता तो दो कि कौनसा पदार्थ ऐसा है ? कोईसा पदार्थ ऐसा हो ही नहीं सकता। स्वरूप ही ऐसा नहीं है

कि किसी परपदार्थ सम्बन्धी विकल्प बनायें और शान्ति पा ले। हां, इतनी बात जरूर है कि पहिलेके अशान्तिके विकल्पोंसे कोई मन्द विकल्प हो तो हम शांतिका अनुभव करते हैं।

जैसे घरके कामधन्धोंके प्रसंगमें जो आकुलता होती है, वह आकुलता मन्दिरके कामोंके प्रसंगमें नहीं होती। मन्दिरमें वैसे काम बहुत रहता है, जैसे अब द्रव्य नहीं है, अब अमुक प्रबन्ध करना है, अब यह चीज लानी है, अब दसलाक्षणी आ रही है, अब सफाई करवानी है, अब अमुक काम करवाना है, कितने ही काम करने पड़ते हैं। अब आप यह बतावो कि ये सारे काम शान्तिसे किए जा रहे हैं या आकुलता उत्पन्न हुई है, उसको मिटानेके लिए ये काम किए जा रहे हैं? ये भी सारे काम आकुलताके कारण किए जा रहे हैं। उन सभी कामोंमें भी आकुलता भरी है, अशांति पड़ी है, पर इतनी बात है कि घरके कामोंमें आकुलता यदि ८० डिग्री है तो मन्दिरके कामोंमें आकुलता १० डिग्री है।

आपेक्षिकतामें शान्तिकी कल्पना— जैसे किसीके १०४ डिग्री बुखार था और उतरकर १०२ डिग्री रह जाय तो पूछने वाले पूछते हैं कि कहो भाई! तुम्हारी तबियत कैसी है? तो वह उत्तर देता है कि अब तो तबियत ठीक है। यद्यपि अभी १०२ डिग्री बुखार है, फिर भी मान लिया कि तबियत ठीक है। हां वह १०४ डिग्री बुखारके मुकाबलेमें कह रहा है। इसी प्रकार पूजाके, साधनाके, तपस्याके जितने जितने भी काम हैं, वे सब काम भी बिना आकुलता और अशान्तिके नहीं होते हैं, लेकिन विषय-कषायोंके कामके मुकाबलेमें ये सब अल्प अशान्ति वाले काम हैं। इतनी बड़ी अशान्तिके काम न होने से हम इन्हें शान्तिके काम बोला करते हैं, पर कोई भी परपदार्थका सम्बन्ध ऐसा नहीं है जो शान्तिसे बने। शान्तिका कारणभूत कोई भी परद्रव्यका प्रसंग नहीं हो सकता है। फिर 'परपदार्थोंमें यह मैं हूं, ऐसी बुद्धि करना तो महाबन्धन हीहै।

अपनी दयापात्रता— अज्ञानीजन दयाके पात्र बताये गए हैं। पापीजन घृणाके योग्य नहीं कहे गए, किन्तु दयाके पात्र कहे गए हैं। ओह इन विषयकषायोंमें मस्त हुए ये जगत्के प्राणी अपनी प्रभुताको खोये चले जा रहे हैं। कितनी खेदकी बात है कि हैं स्वयं प्रभुत्वसे भरे हुए ज्ञानानन्द-स्वभावमय, किन्तु अपने आपको ज्ञानानन्दरूपमें अनुभव नहीं कर सकते। बाह्यपदार्थोंकी ओर ही दीनवृत्ति बनाए हुए हैं, मुझे अमुकसे बड़ा ही सुख है, मुझे अमुक बड़ा आराम देता है। अरे, वह सुख और आराम तुम्हारे ही आनन्दगुणकी पर्याय है, परपदार्थोंके गुणोंकी पर्याय नहीं है। इस तत्त्व

को भूलकर परकी ओर ऐहसान का भाव रक्खा है तो वह भी अपने आप पर अन्याय है। दूसरों पर ऐहसान डालना और दूसरोंका ऐहसान मानना ये दोनों ही बातें अपनी प्रभुता पर अन्याय करने की हैं, परमार्थदृष्टिसे विचारो।

अध्यात्मक्षेत्रकी स्वच्छता— भैया! लोकव्यवहारमें तो दूसरोंका ऐहसान माननेको गुण कहते हैं, कृतकृत्यता कहते हैं। बड़ा भला पुरुष है, दूसरों के उपकारकी इसे सुध तो है। पर अध्यात्मक्षेत्रमे दूसरो पर ऐहसान डालना और दूसरोंका ऐहसान मानना—ये दोनो ही विकारकारक हैं। दूसरों पर एहसान थोपनेमे मानका दोप लगता है, तो दूसरोंका ऐहसान माननेमे दीनताका दोष लगना है। यह अध्यात्म क्षेत्रकी बात कह रहे है। क्या व्यवहारमे दूसरे के प्रति कृतज्ञताका भाव न किया जायेगा? किया जायेगा पर जिसे अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें संकल्प विकल्प है, ठहरनेकी धुन लगी है इसके लिए तो ये सारी बातें सुगम हैं।

अपूर्व प्रेमका एक दृष्टान्त—एक पौराणिक घटना है कि जब रामचन्द्र जी लंका विजय करके आये और खुशीमे राजावों को सबको कुछ कुछ देश बांट दिये कि तुम अमुक देश पर राज्य करो; तुम अमुक देशपर राज्य करो, सबको वितरण कर दिया। एक हनुमानको कुछ न दिया। अब हनुमान जी खड़े होकर पूछते हैं, हे राम! सबको तो तुमने सब कुछ दिया और मुझे कुछ नहीं दिया, इसका क्या कारण है? तो राम कहते हैं कि हम तुम्हें भी कुछ देते हैं, सुनो—मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिवाञ्छति॥ हे हनुमान! तुमने हमारा बहुत उपकार किया, मैं जानता हू। बड़े-बडे संकटोंसे तुमने मुझे बचाया, मै जानता हू, सीताका पता तुमने ही लगाया और इस युद्धमे भी जब-जब संकट आया तो तुमने ही सहारा दिया, जब भाई लक्ष्मणके रावणकी प्रक्षिप्त शक्ति लग गई, मूर्छित हो गए तब भी उपाय तुमने ही किया, बहुत उपकार है तुम्हारा। लो अब तुमको उसके एवजमे कुछ देते हैं सुनो, हे हनुमान जी, तुमने हमारा जितना उपकार किया है वह सब उपकार मुझमे खत्म हो जाय, मैं बिलकुल भूल जाऊँ, यह बात मैं तुम्हें देता हू।

आन्तरिक मर्म— भैया! क्या सुना? क्या दिया? तुमने जो कुछ हमारा उपकार किया उस सब उपकारको मैं बिलकुल भूल जाऊँ, एक भी तुम्हारा उपकार मुझे याद न रहे। यह मै देता हूं। शायद आप लोग यह सोच रहे होंगे कि यह बुरी बात है। अरे राम तो यह कह रहे हैं कि मैं तुम्हारे सब उपकारोंको भूल जाऊँ। कोई पूछता है—क्यों साहब क्या दिया

रामने ! तो दूसरी पंक्तिमें इसका समाधान कर रहे हैं कि देखो हे हनुमान ! यदि तुम्हारा उपकार मुझे याद रहेगा तो मैं यह चाहूंगा कि मैं हनुमानका बदला चुकाऊँ। बदला चुकाऊँ का अर्थ यह है कि हनुमान पर कोई विपदा आये तो उस विपदाको दूर करूँ, प्रत्युपकार करूँ। ऐसी भावना मुझमें यदि जग जाय तो मैं इसको उत्तम नहीं समझता हूं। जो मनुष्य प्रत्युपकारकी इच्छा रखते हैं उन्होंने आपत्ति तो पहिले ही चाह ली कि इस पर कोई आपत्ति आए तो मैं इसकी आपत्तिको दूर करूँ। सो हे राम ! मैं तो यही चाहता हूं कि तुम पर कोई आपत्ति न आए। प्रत्युपकार करनेकी इच्छा तब होती है जब यह भावना हो कि इस पर संकट आए तो मैं भी इसका संकट दूर करूँ। देखिये, ऐहसान धरनेमें तो मदविकल्प है ही, किन्तु ऐहसान माननेमें भी तो पहिली बात यह है कि दीनता आई, दूसरी बात यह है कि प्रत्युपकारके माध्यमसे विपत्ति चाह ली। तो हुआ ना, दोनोंमें चित्तस्वपर अन्याय। यह आध्यात्मिक क्षेत्रकी बात कही जा रही है।

शान्तिकी ज्ञानसाध्यता— भैया ! जितनी भी प्रवृत्तियां हैं, चाहे वह लोकप्रवृत्ति हो, चाहे व्यवहारप्रवृत्ति हो वे सब अशान्तिको उत्पन्न करने का स्वभाव रखती हैं। शांति उत्पन्न करने का स्वभाव तो केवल ज्ञातृत्वमें है। ज्ञानद्वारा ज्ञानके स्वरूप को निहारनेमें ही शांति उत्पन्न होती है। शांतिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। तब फिर ऐसा ही उद्यम करें कि जिससे परपदार्थोंमें हमारी ममता बुद्धि न जगे। भीतरमें ज्ञानका झकझाटा तो हो जाय, समझमें एक अटूट बात तो आ जाय कि यह अपने स्वरूपमें पूर्ण है। मैं अपने स्वरूपमें पूर्ण हूं। सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं। यह तो ज्ञानी की बात है। ऐसा ज्ञान जगे कि मैं, मैं ही हूं, पर पर ही हैं। अपनेमें अहं और ज्ञानमात्रका अनुभव बने तो यह जीव परपदार्थोंसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है। मुक्तिसे बढकर वैभव और कुछ नहीं है।

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

बहिरात्माका निजके विषयमें अनुभवन— बहिरात्मा जीव जिसको कि बाह्यपदार्थोंमें आत्मबुद्धि हो गयी है और इसी कारण जो अपने स्वरूपसे भ्रष्ट हो गया है वह अपने आपके बारेमें क्या कुछ अनुभव करता है या नहीं, इस जिज्ञासाके समाधानमें यह श्लोक आया है। वस्तुतः देखो तो जितने भी जीव हैं वे सब चाहे परके बारेमें श्रद्धा हो या अपने विषयमें श्रद्धा हो, चाहे, मिथ्यादृष्टि हो, चाहे सम्यग्दृष्टि हो, अनुभव तो निरन्तर

करता ही रहता है और अपना ही अनुभव करता है। मिथ्यादृष्टि जीव अपना किस प्रकारका अनुभव रखता है? इसके विवरणमें इस श्लोकको कहा गया है। मूढ पुरुष इस दृश्यमान शरीरको आत्मा रूपसे मानता है और चूँकि इस शरीरमें पुरुष लिङ्ग, स्त्री लिङ्ग, नपुंसक लिङ्ग ये चिह्न हैं, सो अपने को ही मैं पुरुषलिङ्गी हूं, मैं स्त्रीलिङ्गी हूं, मैं नपुंसकलिङ्गी हूं इस प्रकारका अनुभव किया करता है।

निजका परमार्थस्वरूप— भैया! परमार्थतः तो न कोई आत्मा पुरुष है, न कोई आत्मा स्त्री है, न कोई आत्मा नपुंसक है, किन्तु ज्ञानदर्शनात्मक चेतन सत् है। विभावपरिणामोंको निमित्त पाकर जीव वैसी-वैसी शरीर स्थितियोंमें बँधता है यह बात तो अलग है किन्तु स्वरूप तो सबसे विविक्त एक चैतन्यस्वरूप मात्र है। अपने आपमें ऐसा अनुभव किया जाना चाहिए कि मैं मनुष्य भी नहीं हूं, मैं तो एक चिद्रूप सत् हू।

अज्ञानी और ज्ञानी के अनुभवनमें अन्तर— अहो, बन्धन बद्धताके कारण इस जीवमें कैसा अभिमान हो गया है, शरीरमें अहंकार हो गया है कि इसकी प्रतीति बदल गई, इसकी वचनपद्धति बदल गयी और विचार संस्कार भी बदल गये। महाभाग, जिसका होनहार उत्तम है, वह आत्मा देहमें रहता हुआ भी अपनेमें देहरूपका अनुभव नहीं करता है।

लिङ्गात्मक अनुभवनमें अकल्याण— कोई स्त्री अपने आपको 'मैं स्त्री हूं' ऐसा अनुभव रक्खे तो वह संसारसे पार नहीं हो सकता, यों ही कोई पुरुष अपने आपको 'मैं मर्द हूं, पुरुष हूं' ऐसा अनुभव करले तो वह भी संसारसे पार नहीं हो सकता। जब यह देह भी मैं नहीं हूं तो देहमें होने वाले चिह्नोंसे अपने आपको पुरुष अथवा स्त्री रूप समझना यह समीचीनतासे परे है। मूढ़ पुरुष ही अपने आपको इन तीनों लिङ्गों रूपसे अनुभव किया करता है। मूढ कहो, मोही कहो दोनोंका एक ही अर्थ है। किन्तु लोग मोही शब्द सुनकर रुष्ट नहीं होते और मूढ़ कह दो तो रुष्ट हो जाते हैं।

व्यामोहमें बुद्धिका दुरुपयोग— दो युवक मित्र सैर सपाटा करने जा रहे थे। रास्तेमें एक बुढ़िया मिली। उन्होंने कहा रामराम। बुढ़िया ने कहा खुश रहो। वे दोनों आगे बढ़ गये। रास्तेमें उन दोनोंमें परस्परमें विवाद हो गया। एक युवक बोला कि बुढ़ियाने तो मुझे आशीर्वाद दिया, तो दूसरा युवक बोला कि नहीं, मुझे आशीर्वाद दिया। दोनोंमें झगड़ा हुआ। तय हुआ कि वापस वापिस चलें और बुढ़ियासे पूछें कि तुमने किसे आशीर्वाद दिया? वे दोनों वापिस आये। पूछा—बुढ़िया मां, तुमने हम

दोनोंमें से किसे आशीर्वाद दिया ? बुढ़िया बोली कि तुम दोनों में से जो अधिक मूर्ख होगा उसे आशीर्वाद दिया। इस पर भी वे दोनों लड़ गये यह कहते हुए कि हम ज्यादा मूर्ख हैं।

मूढ़ताकी दो कहानी— बुढियाने एकसे कहा कि बताओ कि तुम कैसे बेवकूफ हो ? उसने कहा कि मेरी दो शादी हुई, दोनों स्त्री हैं। मैं जब अटारी परसे नीचे उतर रहा था तो एक स्त्रीने ऊपरसे हाथ पकड़ लिया और दूसरी स्त्रीने नीचेसे पैर पकड़ लिया। दोनोंमें आपसमें खींचातानी हुई। ऊपरकी स्त्री कहे कि ऊपर आओ, नीचेकी स्त्री कहे कि नीचे आओ, इस तानातानीमें मेरा यह वाला पैर टूट गया और अब देखो कि मैं लँगड़ा हो गया हूं।

अब बुढियाने दूसरेसे कहा कि अच्छा बताओ कि तुम कैसे मूर्ख हो ? दूसरा बोला कि मेरे भी दो स्त्रियां हैं। मै पलंग पर पडा था। एक स्त्री मेरे बायें हाथ पर सिर रखे सो रही थी और दूसरी स्त्री दायें हाथ पर सिर रखे सो रही थी। रातका समय था, सरसोंके तेलका दिया जल रहा था। एक चूहा आया, उसने जलती हुई तेलकी बातीको अपने दांतोसे पकड़ कर गिरा दी। वह बाती हमारी आंख पर आकर गिरी। मैंने उस बातीको उठाया नहीं। मैंने सोचा कि यदि इस हाथसे उठाता हूं तो इस स्त्री को कष्ट होगा और यदि इस हाथसे उठाता हूं तो इसे कष्ट होगा। सो देखो मेरी एक आंख चली गयी, मैं कितना मूर्ख हूं ? बुढिया बोली कि ठीक है बेटा, मैंने तुम दोनोंको आशीर्वाद दिया।

अहंता और ममताका प्रकोप— भैया ! मूढ कहो या मोही कहो— दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं है। मोह करने वालेका नाम ही मूढ़ है और उसीका नाम मोही है। यह मूढ़पुरुष अपने आपको पुरुषरूपमें, स्त्रीरूपमें अथवा नपुंसकरूपमें अनुभव किया करता है। इतना ही नहीं, बल्कि इसके ही तो माध्यमसे यह अपनेको कि मैं बच्चों वाला हूं, मैं बच्चों वाली हूं, मैं धनिक हूं, मैं सुभग हूं, कुरूप हूं आदि नानाप्रकारके अनुभव यह जीव किया करता है, किन्तु हे आत्मन् ! ये तेरे नाना अनुभव तेरी बरबादीके लिए हैं, इनमें तू हर्ष मत मान। अपने आपको सबसे न्यारा ज्ञानानन्दमात्र ही अनुभव किया कर। मोही जीव अपनेको नानारूप अनुभवता है, किन्तु ज्ञानीपुरुष अपने को 'अनादिसिद्ध, स्वतःसिद्ध' शब्दमात्रसे भी रहित यह चैतन्यप्रकाशमात्र मैं हूं—ऐसा अनुभव किया करता है।

मैं-मैं में क्लेश है, प्रसिद्ध बात है—

जो मै ना मै ना कहती है, पिंजड़ेमे पाली जाती है।
जो मैं-मै मैं-मै करता है, वह अपना गला कटाता है ।।

अर्थ यह है कि जो अपनेको मैं मैं कहा करता है, वह बुरी तरहसे बरबाद होता है और जो अपनेको न कुछ मानता है, उसका कभी कोई बिगाड़ नहीं है।

स्वार्थसाधनामें छलव्यवहार— बहुत समय पहिलेकी बात है-एक 'माधुरी' पत्र निकलता था। उसमें एक कहानी आयी, बचपनमें मैंने (मनोहरजी वर्णीने) पढी थी। कहानी यह थी कि एक नटखट लड़का था। नाम तो उसका रामू था, पर उसने किस किस जगह क्या क्या नाम बताकर कैसे कैसे चकमा दिया, इस बातको सुनो—वह पाव भर रसगुल्ले लेकर चला। एक गांवके किनारे एक धोबी कपड़े धो रहा था, उसमा छोटा लड़का भी उसके संगमे था। धोबीके लड़केको उसने रसगुल्ला खिला दिया। उसे मीठा लगा तो वह उनको खानेके लिए मचल गया, मैं तो और खाऊँगा। धोबी पूछता है कि अरे, तूने इसे क्या खिला दिया ? वह बोला रसगुल्ला, रसगुल्ला। धोबीने पूछा कि कहां होते हैं ? अरे चले जावो, ये सामने बाग खड़े हैं, वहांसे तोड़ लावो।

अब वह धोबी चला अपने लड़केको लेकर रसगुल्ले तोड़ने। सारे कपड़े बर्तन वहीं रख गया। उस लड़केसे कह गया कि थोड़ी देर इसे देखते रहना। अब इस लड़केने यहां क्या किया कि थाली लोटा व बढ़िया कपड़े लेकर चम्पत हो गया। धोबीने पहिले उसका नाम पूछ लिया था, उसने बताया था कि मेरा नाम है, कलपरसों। अब धोबीको कहीं रसगुल्ले न दीखे तो वह हैरान होकर गुस्सेमे वापिस आया तो देखा कि अच्छे कपड़े, थाली, लोटा गायब। तो वह चिल्लाने लगा कि अरे दौड़ो भाइयो, मेरे कपड़े कलपरसों ले गया। लोग आये और कहा कि अरे, कलपरसों कपड़े कोई ले गया तो आज क्यों रोते हो ?

मायामें मायाचार— वह लड़का बहुत दूर बढ गया। आगे जाकर एक घुड़सवार मिला। घुड़सवारको प्यास लगी। उस लड़केके पास लोटा डोर थी, उसने पूछा कि अच्छा तुम्हारा नाम क्या है ? उसने कहा कि मेरा नाम है, कर्ज देनेमें। वह उस लड़केको घोड़ा पकड़ाकर कुवेपर पानी पीने लोटा डोर लेकर चला गया। वह लड़का झट घोड़े पर बैठा और व उसे उड़ा ले गया। अब घुड़सवार चिल्लाता है कि अरे भाइयों, दौड़ो, कर्ज देनेमें मेरा घोड़ा ले गया। लोग आए और कहा कि अरे भाई, कर्ज देनेमें घोड़ा ले गया तो क्या बुरा किया ?

मैं मैं की प्रतिक्रिया— अब वह लड़का एक शहरमें पहुंचा, सोचा कि कहां ठहरूँ ? एक धुनियाका घर था, वहां ठहर गया। धुनिया तो वहां था नहीं, कहीं बाहर गया था, घरमें धुनिनी थी। वह उससे कहता है— मां मुझे रात्रिभर ठहर जाने दो, सवेरा होते ही अपने घर चला जाऊँगा। तो उसने कहा—अच्छा बेटा ! ठहर जावो। क्या नाम है तुम्हारा ? तो वह लड़का बोला मेरा नाम है, तू ही तो था। अच्छा तू ही तो था; बेटा ठहर जावो। वह ठहर गया। पासमें थी एक बनियेकी दुकान, वहां से शक्कर घी आटा दाल सब ले लिया और कहा कि सवेरे तुम्हारे सब पैसे चुका देंगे। वह बढ़िया कपडे पहिने था सो उसे उस लड़के की बात पर विश्वास हो गया। उसने नाम पूछा तो बताया कि मेरा नाम, मैं ही था। उसने रोटी बनाई और जहां रूई रक्खी थी वहां पर धोवन डाल दिया। अब वह तो रात्रि व्यतीत होते ही सुबह चला गया। दोपहरमें धुनिया आया सारी रूई खराब देखी। तो वह पूछता है कि यहां रात्रिको कौन ठहरा था ? तो स्त्री कहती कि तू ही तो था, क्योंकि ये नाम ही था उसका। उसने कहा ठीक-ठीक क्यों नहीं बताती ? कहा, तू ही तो था। उसने डंडे लेकर दो चार जमाये। अब वह बनिया आकर दया करके बोलता है, अरे भाई ! इसे मत मारो जो यहां ठहरा था, वह मैं था। लो वह बनिया पिटा।

लिङ्गात्मक मायास्वरूपकी हेयता— तो भैया ! जो मैं मैं करता है, वह पीटा जाता है। अच्छा घर गृहस्थी और समाजमें भी देखो—क्या दुःख है ? यदि यह जान जायें कि मैं तो सबसे अपरिचित चैतन्यतत्त्व हूं तो किसी बातका झगड़ा ही नहीं है। अज्ञानी जीवको शरीरसे भिन्न इस निज आत्मतत्त्वकी प्रतीति नहीं है, इस कारण वह अपने को नानारूप मानता है। अभी किसी छोटी बच्चीसे कहो कि तू तो लड़का है तो वह लड़की कहेगी कि हट, तू ही होगा लड़का, मानों वह समझती है कि लड़का होना खराब बात है। लड़के को कहो कि तू तो लड़की है, तो वह कहेगा कि हट, तू ही होगा लड़की। तो लड़का जानता है कि लड़की होना खराब है और लड़की जानती है कि लड़का होना खराब है। तो उसका अर्थ यह हुआ कि दोनों होना ही खराब है। जब लड़की को लड़का सुनना पसंद नहीं और लड़केको लड़की सुनना पसंद नहीं तो इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों ही होना खराब है।

मनुष्यमें मानकी टेव— अपने को मानो कि मैं सबसे विविक्त एक यथार्थ ज्ञानात्मक तत्त्व हूं। यह सब स्वप्नका सा बड़ा विकट झमेला है। किन्तु कोई शम नहीं खाता, इसीको सार मानकर इसीमें आसक्त हुआ जा

रहा है। मनुष्यगतिमें मान कषायकी प्रबलता है, सो मानों अपने सिद्धान्त की बात मनुष्यजन रख रहे हैं कि कहीं सिद्धान्त न गलत हो जाय। नरकगतिमें क्रोध कषाय अधिक है, तिर्यंचगतिमे माया कषाय अधिक है और देवगतिमें लोभ कषाय अधिक है। सो मानो मनुष्य ऐसा सोच रहे हैं कि खूब मान किए जावो नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि जैन शास्त्र गलत हो जाये। यह हँसीकी बात कह रहे हैं। जैन शास्त्र यह भी तो कह रहे है कि मनुष्य कर्म काटकर मुक्ति प्राप्त करता है, ऐसा क्यों नहीं किया जाय?

मानका अनुद्गमन— देहरादूनके चातुर्माससमें एक डेढ़ मील रोज घूमने जाना पड़ता था सुबहके समय। तो रास्तेमे कुछ पंजाबियोंके या और किसीके लड़के गोली, पतग इत्यादि खेल खेला करते थे। तो कभी कभी ऐसा मनमे आता था कि बहुत दिनोंसे गालियां सुननेको नहीं मिलीं हैं चलो इनके खेलको पैरोंसे थोड़ा मिटार दें तो कुछ न कुछ तो सुनने को मिलेगा ही, कुछ न कुछ गालियां तो देंगे। मैंने मिटार भी दिया तो किसी लड़के ने कुछ गाली दी, किसी लड़के ने कुछ गाली दी। सो वह मन बहलाने की बात थी। क्यो कि जानते हैं कि बच्चोंकी गालियां मधुर होती हैं। मान कषाय इस मनुष्यमे कूट-कूट कर भरी हुई हैं।

व्यामोहियोंसे आशयमे व्यामोहका महत्त्व— यह समझना चाहिए कि मेरे को जानने वाला कोई है ही नहीं। भीतर प्रवेश करके देखो मेरा क्या स्वरूप है? क्या यह दृश्यमान् शरीर मैं हूं? यदि यह शरीर मैं हूं तो यह बहुत बुरी तरहसे जला दिया जाता हूं मृत्युके बाद। इस घरके ही लोग इस मुर्दाको बहुत देर तक रखना पसंद नहीं करते, जिसकी इतनी सेवा की जाती है। करीब-करीब ऐसा रोज आंखोंमें दृश्य आया करता है फिर भी अपने आपके बारेमें ऐसा सुझाव नहीं होता है कि क्या रक्खा है इस शरीरकी मान्यतामें? इस शरीरको ही लोग महत्त्व दिया करते हैं। आत्मा को कोई महत्त्व नहीं देता। आत्मा तो अमूर्त है, ज्ञानानन्द स्वरूप है। इसकी ओर किसकी दृष्टि है? अज्ञानी की इस शरीर पर दृष्टि है, सो शरीर जैसा है उस ही रूप यह अपने को अनुभव किया करता है।

आत्माकी स्वतः निष्पन्नता— किन्तु अन्तरात्माको देखो वह अपने आत्माको देखता है कि मैं अनादि सिद्ध हूं, पैदा भी होने वाला नहीं हूं, किसी गतिसे आता किसी गतिसे जाता हूं, फिर भी सदा रहता हूं। जैसे कोई पुराने घर को बदल कर नये घरमें पहुंचता है तो क्या कोई खिन्न होकर जाता है? वह तो खुश होकर पहुंचता है। यों ही यह जीव पुराने शरीरको बदल कर नये शरीरमें पहुंचता है, यहां हो रहे हैं ये सब काम,

इसमें खेदकी बात क्या है ? किन्तु जिसको शरीर ही आत्मा विदित है उसको तो उस समय बड़ा संक्लेश होता है। यह मैं आत्मा स्वतः निष्पन्न हूं, किसी अन्य पदार्थसे रचा हुआ नहीं हूं, मेरे उत्पन्न करने वाले माता पिता नहीं हैं। यह परमार्थ स्वरूपकी बात कही जा रही है। यह अज है।

आत्माकी शब्दवर्जितता— इस आत्मतत्त्वमें किसी प्रकारका शब्द ही नहीं है। जीव जब यह ज्ञान करता है तो ज्ञान करने से पहिले या साथ साथ इसको अंतरङ्गमें कोई शब्द उठा करते हैं। अच्छा हम आपसे पूछें कि यह क्या चीज है, इसको जानो ? तो आप जान तो लें पर अंतरङ्गमें घ और ड़ी ऐसे शब्द न बनावो और जान जावो। तो ऐसे जानने में आपको मुश्किल पड़ रही होगी। वस्तुके जाननेके साथ अंतरङ्गमें कुछ शब्द उठा करते हैं। तो आचार्यदेव यह बताते हैं कि व्यावहारिक संस्कारके कारण ऐसा हो जाता है, परमार्थतः तेरेमें तो शब्द ही नहीं हैं। यह जीव अपने को किसी रूप अनुभव करता है तो उस अनुभव करने से पहिले अथवा उस अनुभवके साथ-साथ इसमें कोई शब्द उठा करते है, अरे तू तो शब्दोंसे भी रहित है अथवा शब्दमूलक जो अनुभव है, उस अनुभवरूप तू अपने को क्यों मानता है ? अपने आपको शब्दरहित स्वतःसिद्ध एक चैतन्यस्वरूप मान कि यह मैं हूं और इस मुझ स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नटखट यह मैं कुछ नहीं हूं।

देहविविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी भावना— भैया ! ये सब मायास्वरूप हैं, जो नष्ट हो जाते हैं। मैं कभी नष्ट नहीं होता। यह मैं परमार्थ रूप एक चैतन्यस्वरूप हूं। अपने आपमें बिना गिने जाप करो कि यह मैं इस शरीरसे भी न्यारा ज्ञानमात्र हूं। देखो फिर बिना कुछ न होगा। और करना भी क्या है धर्मके लिए ? मात्र भावना। क्योंकि, यह जीव भावना के सिवाय अन्य कुछ किया भी नहीं करता है। और धर्मके प्रसंगमें तो भावना ही एक कर्तव्य है। अपने आपमें ऐसी भावना-बिना गिने बहुत काल तक बनावो, कहीं भी बैठे हो, सब ओरका ख्याल छोड़कर कि मैं शरीरसे भी न्यारा ज्ञानमात्र हूं—इस प्रकारकी बारबारकी भावना करने से अर्थात् ज्ञानभावना होने से अविद्याका संस्कार खतम होगा और अपने आपको ज्ञानरूप अनुभूति प्रकट होगी। जब ज्ञानरूपमें अपने को अनुभूति प्रकट हो लेगी उस कालमें अलौकिक आनन्द प्रकट होगा। बस उस ज्ञान और आनन्दके अनुभवका नाम ही सम्यक्त्व का अनुभव है। ऐसा जिसका अनुभव हो जाता है उसे फिर ये सब विषय सुख, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, प्रतिष्ठा, यश, वैभव सब कुछ उसे असार जचने लगते हैं। वह बार

बार अपने ज्ञानस्वरूपमे प्रवेश करनेका यत्न किया करता है।

अज्ञानी और ज्ञानीके भावमें अन्तर और परिणाम-- भैया ! यों देखो---अज्ञानीके और ज्ञानीके भावोंमे कितना अन्तर है ? अनुभवमें भी कितना अन्तर है ? अज्ञानी अपने को पुरुष, स्त्री, नपुंसक आदि रूप मानता है और ज्ञानीपुरुष अपने को स्वच्छ, शुद्ध, शब्दरहित ज्ञानानन्द स्वभावमात्र मानता है। देखो माननेके सिवाय और कुछ कर ही नहीं रहा है, इस मानने को बदल दे भीतरमे, तो मोक्षका मार्ग निकट है। यदि पहिले ही जैसी मान्यता बने कि यह दृश्यमान् मैं हूं, ये मेरे हैं, मेरे कुटुम्बी हैं, इनसे मेरा हित है, सुख है, इनसे ही मेरा जीवन है, ऐसी मान्यता बनी रहेगी तो इस खोटी मान्यतामें क्लेश ही क्लेश हैं। इससे तो जन्म-मरणकी परम्परा बढ़ती रहेगी। ऐसा जब भी ख्याल आये तो एक बात पकड़कर रह जायें, ऐसा अनुभव करें कि मै देहसे भी न्यारा केवलज्ञान स्वरूप हू। ऐसा ही अन्तरमे निरखिये तो इस पुरुषार्थबलसे ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगेगा और सत्य आनन्दकी प्राप्ति होगी।

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्त भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्ति भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

पूर्वविभ्रमसस्कारकी विडम्बना— आत्मतत्त्वको जानता हुआ भी और सर्वसे विविक्त आत्मतत्त्वकी भावना करता हुआ भी पूर्वकालीन विभ्रमके संस्कारके वशसे यह फिर भी भ्रांतिको प्राप्त होता है। इस मोह पिशाचका कितना संताप है कि ज्ञानी भी कोई पुरुष हो गया, फिर भी यद्यपि इस समयमें मोह नहीं है किन्तु पहिले जो मोह किया था उसके संस्कारके वशसे अब भी परपदार्थोंमें भ्रांत हो जाता है। जैसे लोग कहा करते हैं कि भला ज्ञान करने पर भी राग उठता और यह बंधनसे अलग नहीं हो पाता, ऐसा कौनसा कारण है ? वह कारण है पूर्वकालीन विभ्रम का सस्कार।

ज्ञान होने पर भी असावधानीसे विडम्बना— इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि एक बार ज्ञान परिणाम करने के बाद भी यह जीव सावधान न रहे तो फिर सम्यक्त्व छूट कर वहां ही अज्ञान दशाको प्राप्त हो जाता है। इस कारण यथार्थ परिज्ञान करके भी उस यथार्थ ज्ञानके लिए हमे सदा जागरूक और यत्नशील रहना चाहिए। जैसे जिस पुरुषने पहिले नशा किया था, समय व्यतीत होने पर नशा हल्का हो जाय अथवा नशा उतर जाय उस कालमे थोड़ी असावधानी करे या थोड़ी अटपट कल्पनाएँ या कोई खटपट करे तो पहिलेकी तरह उसका नशा शीघ्र आ जाया करता है।

अथवा गरम किए हुए पानी को ठंडा किया जाय, अभी-अभी ठंडा हो रहा है और उस पानीका पुनः आगसे सम्बन्ध हो जाय तो वह बहुत शीघ्र गरम हो जाता है। पहिलेसे ठंडा हुआ जल हो वह उतने शीघ्र गरम नहीं हो पाता। यह नया-नया ज्ञानी हुआ है, इसके बहुत खतरे हैं। जब तक ज्ञानभावनाका अभ्यास दृढ़ न हो जाय तब तक इसको खतरा ही खतरा है।

ज्ञानीको खतरा व अज्ञानका गर्त— यह ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वको जानता हुआ भी और सर्वसे विविक्त इस आत्मतत्त्वकी भावना करता हुआ भी पूर्वकालीन भ्रमके संस्कारके वशसे फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है। फिर जो अज्ञानी जीव हैं, स्वच्छन्द होकर मनमाना विषयोंमें लीन हो रहे हैं, उनकी तो कहानी ही क्या कहें? जब ज्ञानियोंको देखे वे इतने खतरेमें पड़े हुए हैं तो पहिले से ही अज्ञानगर्तमें डूबे हुए संसारी प्राणीकी तो कहानी ही क्या कही जाय?

अतत्त्वमें तत्त्वबुद्धिपर खेद— भैया! कोई तत्त्व तो नहीं है किसी भी बाह्यपदार्थकी प्रीतिमें। खूब परख लो कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है अपने आपके स्वरूपसे अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें। खूब निरखलो— लेकिन क्या गजब हो रहा है? अत्यन्त भिन्न यह आत्मा अपने ही प्रदेशमें ऐसी कल्पनाएँ बना रहा है कि बाह्यपदार्थोंके बन्धनसे छूट नहीं पाता है। एक दोहा है—जैन धर्मको पायके वर्तें विषय कषाय। यहा अचम्भा है यही जल मे लागी लाय॥ जैसे जलमें आग लग जाय, ऐसी कोई खबर दे तो विश्वास कम होता है। लग जाय जलमें आग तो अब काहे से बुझाना, ऐसे ही इस जैनतत्त्वको पाकर, इस सत्य पथको पाकर विषयोंकी प्रीति न घटे, विषय-कषायोंका रूप और बढ़ता जाय तो फिर कहांसे कल्याणका पथ मिले?

ज्ञानीपन— जागरूक यदि यह मनुष्य रहे, 'निजको निज परको पर जान' यह नीति उसकी बिल्कुल स्पष्ट हो, तब उसे आकुलता नहीं जग सकती है और फिर है क्या? जो हो रहा है ठीक है। कमायें, घरमें रहें सब कुछ करें, पर करते हुए भी कोई प्रतिकूल घटना हो जाय, धनमें कमी हो जाय, आय न हो, इष्टका वियोग हो जाय, कैसी भी घटना हो जाय तो वहां चित्त फक्कड़ रह सके तब तो समझो कि यह ज्ञानी है। अर्थात् किसी भी विपदामें यह अपने में विषाद न माने, इसमें किंकर्तव्यविमूढ़ता न आये, हाय अब क्या करें, हमको कोई पंथ ही नहीं दिखता, ऐसा विह्वल न बन सके तो समझो कि वहां ज्ञान है।

परमार्थ शौर्य— भोग तजना शूरोंका काम, भोग भोगना बड़ा आसान, सम्पदा मिले, मस्त हो रहे, राग कर रहे, यह शूरवीरता नहीं है। यह तो एक संसारकी रीति है, बल्कि आत्माकी ओरसे कायरता है। जिसे कि शौर्य समझते हैं, ये सर्व बाह्य पदार्थ तो इस आत्माकी दृष्टिमें अत्यन्त धूलवत् है। जैसे धूलसे आत्माका कोई हित सम्भव नहीं है, इसी प्रकार इस वैभवसे भी आत्माके हितका कोई सम्बन्ध नहीं है। रही बात एक शरीरको, इसको दो काम तो चाहिए क्या ? भूख प्यास न रहे, और ठंडी गरमीसे बचत हो। इन दो कामोंके अतिरिक्त और क्या अटका है ? इनका उपाय तो साधारण श्रमसे भी हो जाता है। जब कीड़े मकौडे भी अपना उपाय कर लेते हैं तो मनुष्योंसे क्या उपाय न बनेगा ? हो जाता है थोड़ेमें ही साध्य। और इनमें भी भूख प्यास शरीरकी बाधा मिटा दें तो इससे कहीं शरीरकी ओरसे धर्म न मिल जायेगा। वहां तो इतनी गुंजायश मिल जायेगी कि यह दुष्ट शरीर अपनी दुष्टता न बगरायेगा। ऐसी स्थितिमें धर्मके पथमें यदि हम आगे बढ़ सकेंगे तो ज्ञानबलसे ही बढ़ सकेंगे।

शरीरसे स्वहितकी निराशा— इस शरीरका नाम उर्दूमें शरीर है। शरीर मायने शरारती। शरीफ इसका उल्टा शब्द है। इस शरीफके मायने हैं सज्जन, महानुभाव और शरीफ का उल्टा है शरीर। शरीरका अर्थ है शरारत करने वाला। तो यह शरीर दुष्टता न बगराये, इतनी ही इस शरीरकी बड़ी कृपा मानेंगे। इससे ज्यादा और कुछ शरीरसे आशा नहीं है। धर्ममार्गमें प्रगति करें तो उसमें ज्ञान ही हमें सहायक होता है। तो जब आत्मतत्त्वका परिज्ञान भी कर लेते हैं तिस पर भी पूर्वकालीन वासनाओं से हम डिग जाते हैं, च्युत हो सकते हैं। तब हमें ज्ञान प्राप्त करके भी प्रमादी नहीं होना चाहिए, किन्तु इस ज्ञानको बनाए रखनेमें हमें सावधान रहना चाहिए।

ज्ञानार्जनसे हितकी आशा— हम ज्ञानार्जन करें, स्वाध्याय करके ज्ञानार्जन करें, गुरुजनोंसे पढकर करें, धर्मात्माओंमें चर्चा करके करें, हर सम्भव उपायसे हमारे उपयोगमें ज्ञानकी भावना बने। देखो जब पुस्तक लेकर, बस्ता सा लेकर जो पढने जा रहा है उसके चित्तमें ऐसा रहता है कि हम पढ़ने जा रहे हैं। उस समय वह बालकवत् कुछ तो निर्विकार हो ही जाता है, कुछ तो प्रसन्नता रहती ही है। बुजुर्गीका अनुभव करने में जो बोझ है वह बोझ हट जाता है। आप लोग ऐसा अनुभव भी करते होंगे जब पुस्तक उठाकर कापी लेकर, रजिस्टर लेकर पढनेके भावसे आते होंगे, उस समय ४०–५० वर्षका पिछड़ा हुआ वह बचपन थोड़ी झलक दे

ही जाता है और उस झलकमें आपके कितने ही विकार शांत हो जाते हैं। पढ़ते हैं इसके नाममें भी ज्ञान है, फिर पढ़ने की तो कहानी कौन करे?

ज्ञानका महत्त्व— भैया! ज्ञानके समान जगत्में और कोई दूसरा वैभव नहीं है। अन्य वैभवोंको तो चोर लूट लें, डाकू छीन लें, राजा छुड़ा ले, और अनेक लोग उसकी घात लगाते हैं अथवा गुजर जाय तो यों ही छूट जाय, किन्तु अर्जित ज्ञान एक ऐसा वैभव है कि इसे चोर चुरा नहीं सकते, डाकू छीन नहीं सकते, राजा ले नहीं सकता और मर जाने पर भी इसका संस्कार साथ जाता है। तो अब तुलना कर लीजिए कि विद्याका वैभव बड़ा है या इस क्षणिक वैभवका वैभव बड़ा है?

ज्ञानके अज्ञानकी विडम्बना— एक कथानक है। एक पुरुष साधु जी के पास पहुंचा। बोला महाराज, मुझे आत्माका ज्ञान नहीं है, मेरे पास ज्ञान नहीं है, मुझे ज्ञान दीजिए। तो गुरुने कहा, अरे चले जावो उस यमुना नदी के अमुक घाट पर, वहां एक मगर उस घाट पर रहता है उससे कहो कि मेरे में ज्ञान नहीं है तो वह ज्ञान तुम्हें दे देगा। वह चला गया घाट पर, मगर भी मिल गया। उसने कहा—हे मगरराज, मेरे ज्ञान नहीं है, मेरेको ज्ञान दे दो। तो मगर संकेत करता है कि मैं बड़ा प्यासा हूं, तुम्हारे हाथमें लोटा डोर है, उस कुए से पानी भर लावो, मैं प्यास बुझा लूं तब तुम्हें हम ज्ञान देंगे। तो वह बोला कि मुझे तो बड़े आचार्य ने भेजा है तुम्हारे पास कि वह तुम्हें ज्ञान देगा किन्तु तुम तो बेवकूफ हो, पानीमें डूबे हुए हो और कहते हो कि मुझे प्यास लगी है, कुए से पानी भर लावो, पानी पी लें तब ज्ञान दें। तो मगरकी ओरसे उत्तर मिलता है कि ऐसे ही बेवकूफ तुम हो। अरे ज्ञान ही तेरा स्वरूप है, ज्ञान ही तेरी पौंडी है, तिस पर भी तू ज्ञान पूछने आया है कि मेरा ज्ञान गुम गया, मेरे को ज्ञान दो। अरे जो यह जान रहे हो कि मेरेमें ज्ञान नहीं है वही तो ज्ञानमय तत्त्व है। जो अपने आपको मना करता है कि मैं आत्मा फात्मा कुछ नहीं हू, जो इस प्रकारकी जानकारी करता है वही तो आत्मा है।

आत्मज्ञानकी सुगमता— भैया! इस आत्माके ज्ञानमें कोई कठिनाई नहीं है, कोई श्रम नहीं है, कोई विलम्ब नहीं है, किन्तु थोड़ा इस ओर अपने उपयोगको उन्मुख करना है, फिर तो यह विशद स्पष्ट सामने है। इतना ही न किया तो आत्मदर्शन होना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। क्या साधारणतया इतनी बातका परिज्ञान नहीं है कि यह सारा जगत् धोखा है, सब पदार्थ विनाशीक हैं। अरे जब तक समागम भी है तब तक

भी अनाकुलताका हेतुभूत नहीं है। जो लोग दिखते हैं ये सब भी स्वप्न की तरह दिख रहे हैं, सब माया स्वरूप हैं, परमार्थभूत कुछ नहीं हैं। यहां कोई ऐसा नहीं है कि जिसको पूर्ण प्रसन्न कर लिया जाय तो संकटों से छुटकारा हो जायेगा। है ही नहीं कोई ऐसा। किसीमें शक्ति ही नहीं है ऐसी। ये सब कलाएँ तो अपने आपमे बसी हुई हैं। हम अपनी कलासे अपने आपको प्रसन्न कर सकते हैं, सुखी कर सकते हैं, मेरेको शांत और सुखी करनेकी सामर्थ्य किसी अन्य जीवमे नहीं है। क्या हमारे कुछ परिज्ञान है नहीं ? है, पर उस परिज्ञानका हम मूल्य नहीं करते हैं। उसे हम भीतरमें नहीं अपनाते हैं, अपने आप पर घटित नहीं करते हैं, सो जानते हुए भी मूर्ख बने हुए हैं।

सत्यका निर्णय, आग्रह और प्रवर्तन— एक बार सत्य निर्णय करके फिर उसके उद्यममें लगा जाय। गिरें कई बार तो गिरने दो। एक चींटी भींत परसे कितनी ही बार गिरे, फिर भी वह अपना साहस नही तोड़ती है और कितना ही विलम्ब हो जाय उस भींतके सिरे तक चढ़नेमे, मगर अपना श्रम सफल कर लेती है। तो हम जो कुछ निर्णय करे, जो स्वाधीन सत्य निर्णय करे और उस पर सत्य निर्णय करके चले तो क्या हम वहां तक पहुंच नहीं सकते ? मिला है समागम घरका, स्त्रीका, पुत्रका तो उस समागमका लाभ धर्मके रूपमे लेना चाहिए। देखो प्रेमका प्रेम नहीं छूटा और कामका काम भी बन गया। हैं स्त्री पुत्र घरमें, आप उनसे भी धर्ममें रुचिकी बात कहें, अपनेसे भी धर्मके रुचिकी बात कहें और परस्पर ऐसा कार्य-क्रम बनाएँ कि जिससे उत्साह दिन दूना यह रहे कि चलो बढ़े चलो धर्ममार्गमें। देखिये गृहस्थी भी नहीं छूटी, संग भी बना रहा और धर्मका अनुपम लाभ भी उठाया गया। उस मित्रताको बदल दिया जाय धर्मके रूप में, यहां वहांके भ्रमणमे दृश्य देखनेमें, तफरी करनेमें अपनी मित्रताको बेकार करते हैं। अब उस मित्रताको बदलकर धर्ममार्गमें चलना और चलाना, सत्य आनन्द पाते और पहुंचाते हुए उस मित्रताको बदल दें, उस बधुत्वको बदल दें। सब काम हो जायेंगे।

तपस्याका प्रयोजन— भैया ! ज्ञान समझ करके भी अभी बहुत खतरा है कि कहीं भ्रष्ट न हो जाये, कहीं फिर पाया हुआ ज्ञान छूट न जाय, इसके लिए बड़ी सावधानी रहनी चाहिए। साधुसंत जन क्यों तपस्या करते हैं ? क्या शरीरको कष्ट दे करके मुक्ति होती है ? जब जान लिया उन्होंने कि आत्माका यह ज्ञानस्वरूप है जाननमात्र और यह जानन स्वभाव स्वयं अनाकुलता को लिए हुए है। केवल ज्ञाताद्रष्टा रहें वहीं भी रंच

आकुलता नहीं है। जब यह परिज्ञान कर लिया तब उन्हें और करने को क्या रहा? बस यह परिज्ञान बनाए रहें तो मुक्त होने लगें। क्यों तपस्या किया करते हैं, क्या है उनकी तपस्याका प्रयोजन? सुनिये— बड़े आराम से पाया हुआ ज्ञान बड़ी सुकुमारताके वातावरणमें उपार्जित किया हुआ आत्मज्ञान, यथार्थज्ञान, कभी थोड़ी विपदा आ जाने पर नष्ट हो सकता है, क्यों कि विपदा झेलनेका अभ्यास नहीं है, थोड़ी विडम्बना, विपदा आने पर यह सब कुछ अपने ज्ञानकी बात भूल सकता है और उस कालमें फिर यह संसार गर्तमें डूब जायेगा।

किसी भी अवसरमें व्यग्र न होने के अर्थ तपस्याका अभ्यास— तब क्या करना? जान जानकर शरीरका क्लेश सहना, अनशन करना। कहीं ऐसा न हो कि दुर्भाग्यसे कभी भोजनका मौका ही न मिले और भूखे रहना पड़े तो वहां ज्ञानको हम खो न बैठें, सक्लेशमें हम आ न जायें। उनकी सावधानी बनाये रहने के लिए यह अभ्यास है। जैसे कोई सोचे कि सेनाको इतना एक्सरसाइज करानेमें क्यों इतना व्यय किया जा रहा है करोड़ों, अरबों रुपयोंका? अरे युद्ध तो किसी दिन होगा? जिस दिन युद्ध होगा उस दिन हो जायेगा, कर लिया जायेगा युद्ध। अरे कर कैसे लिया जायेगा? युद्ध उसके लिए तो वर्षों शिक्षा की आवश्यकता है। जब उस शिक्षामें निपुण हो जायेंगे तब तो युद्धमें सफल हो सकेंगे। क्यों सोचें काहे को क्लेश सहें, क्यों तपस्या करें, क्यों अनशन करें? अरे आयेगा दिन कोई दुर्दिन ऐसा कि न मिलेगा भोजन, मुश्किलसे मिलेगा, उस दिन देख लिया जायेगा। और आयेगा ही ऐसा क्यों दिन, क्योंकि हम तो पुण्यके ठेकेदार हैं, कैसे आयेगा वह दुर्दिन कि जिस दिन खाना ही न मिलेगा और जब ऐसा दुर्दिन आयेगा निपट लिया जायेगा, पर उस सम्भावित एक दिन के संक्लेशके या कष्टके बचावके लिए हमें वर्षों, महीनों कष्ट सहनेकी क्या जरूरत है? वर्षोंके इस यथा शक्ति कष्टके अभ्यासके बिना हम दुर्दैवसे पाये हुए उस विपदामें अपनी समझको खराब नहीं कर सकते।

अनेक यत्नके बाद फलित कार्यकी सिद्धि— कोई सोच तो ले ऐसा कि भांवर पड़ना, विवाह होना तो एक मिनटमें होता है, तब फिर क्यों महीनोंसे उसमें हम फंसे। तैयारी कर रहे हैं, निमंत्रण दे रहे हैं, लोग आ रहे हैं, पूजनविधि कर रहे हैं, खबर भी कर रहे, अरे एक मिनटकी तो बात है, ठीक समय पर बुला लिया दूल्हाको, बस एक मिनटमें कर दिया भांवर, हो गया विवाह। करे कोई ऐसा विवाह, तो विवाहका फिर सारा मर्म ही नष्ट हो जायेगा। जब इतने नटखट करके, पंचोंको बुला

करके, आमन्त्रण करके, इतना सजधज करके उस एक मिनटका काम करते हैं तो जीवनभर एक दूसरेका निभाना ऐसा बन्धन पड़ता है। यदि एक एक मिनटके काम बन जायें तो एक ही दिन बाद कहो कि तलाक हो जाए, टूट जावो, कोई प्रयोजन नहीं है।

समाधिमरणकी लब्धिमें अर्थ आजीवन अभ्यास— समाधिमरण होता है अन्तिम समयमें, पर समाधिमरणकी बात सीखनेके लिए जीवन भर धैर्य रक्खे, शांतिसे रहे, ज्ञानार्जन करे, तत्त्वचिन्तन करे, उदारता रक्खे, ये सब बातें की जाया करती हैं। हमारी भलाईके लिए मरण समयका जो एक सेकेण्ड है, उसमें कहीं कुछ गड़बड़ न हो जाए, संक्लेश न हो जाए, ज्ञानभावनासे न डिग जाएँ, इतने प्रयोजनके लिए जीवनभर हमें सीखना पड़ता है, सीखना चाहिए। हम ज्ञानभावनामें बहुत दत्तचित्त रहें।

इष्टसिद्धिमें ताना भी कारण— मन्दसौरमें एक शृङ्गारबाई नामकी महिला थी, वह बहुत प्रसिद्ध हो गयी। जब विवाह होकर अपने घर आयी तो जैसे पीहरमें भी वह रोज कुछ न कुछ किसी पुस्तकका स्वाध्याय किया करती थी। वैसे थी तो मामूली पढ़ी लिखी, पर वह मन्दिरमें दर्शन करनेके बाद कोई पुस्तक उठाये और चौकी पर रखकर १०-५ मिनट बांचा करती थी। यह उसका रोज रोजका काम था। सो वहां जो बूढ़े आदमी दर्शन करने आएँ, वे नाम धरने लगे कि देखो आजकी कुड़ियां, अभी १० दिन हुए, विवाह होकर आयी और शास्त्र लेकर चौकी पर बैठ गयी। अब तो वह प्रतिदिन इसी प्रकारसे करने लगी, दर्शनके बाद कोई शास्त्र लेकर बैठ जाए और पढ़े।

एक दिन वह गोम्मट्टसार ग्रन्थ लेकर बैठ गयी। सो अधिक अवस्था का एक जानकार आदमी जब देखता है कि यह बहू गोम्मट्टसार लिए बैठी है तो उसने ताना मारा कि देखो आजकी बहुएँ अब यह गोम्मट्टसार पढ़ेगी, पण्डितानी बनेगी। यह बात उसके घर कर गयी।

उद्योगका फल— अब वह शृङ्गारबाई उदास होकर घर आयी तो उसका पति पूछता है कि क्या बात है, क्यों इतनी चिंता है? तो वह सारी बात बता देती है। कहती है कि मुझे लोग कहते हैं कि आजकी कुड़ियां, बहुएँ गोम्मट्टसार पढ़ेगी और पण्डितानी बनेगी। तो मेरे मनमें आया कि मैं गोम्मट्टसार के पूर्ण ज्ञानको प्राप्त करूँ। पति बोला कि यह कौनसी बड़ी बात है? तुम जितना चाहो, उतना समय अध्ययनमें लगावो, सिर्फ इतनीसी बात है कि हमें रसोई बनानी नहीं आती, फिर भी

कोई बात नहीं। झाड़ू, गोबर, बर्तन मांजने आदिके सारे काम हम कर लेंगे। तुम केवल-रसोई बना दिया करो और जितना चाहे खूब पढ़ो। उस-ने उसको साहस दिया। उसने अध्ययन तीन चार वर्ष तक एक एक अक्षर धीरे धीरे पढ़कर भी कर डाला, क्योंकि अधिक पढ़ी लिखी न थी, मगर हिम्मत और साहससे थोड़ा ही थोड़ा रोज रोज पढ़कर तीन चार वर्षके बाद वह गोम्मटसार ग्रन्थकी इतनी बड़ी विदुषी हुई कि जिसको क्या कहा जाय ? यह कोई ६० वर्ष पुरानी बात होगी। कहीं बहुत बड़ी सभा लगी थी, उस समय संसारके पचपरिवर्तनके स्वरूप की चर्चा चली तो लोगों ने कहा कि इस पंचपरिवर्तनके स्वरूपको तो विस्तारसे शृङ्गारबाई ही बता सकती हैं। लोगोंने प्रेरणा की कि आप उसकी चर्चा सुनाएँ। तो उस शृङ्गारबाई ने उतनी बड़ी सभामें घटों तक उसकी चर्चा सुनायी।

सुयत्नके लिये प्रेरणा— तो उद्यम करने पर क्या नहीं आ सकता है ? जिस प्रतिभामें इतनी योग्यता है कि हजारों और लाखोंके व्यवसायको रक्षा कर सके, आय रख सके, हिसाब रख सके उस प्रतिभामें क्या इस विद्याके ग्रहण करने की योग्यता नहीं है ? है। हम एक प्रणसे एक ज्ञाना-र्जन के लिए अधिकाधिक यत्नशील बनें और इस ज्ञानके अनुभवसे अपने जीवनको सफल करें। फिर जो ज्ञान पायें उसको बिछुड़ने न दें। उसकी बार-बार भावना बनाएँ। ज्ञानके अनुभवसे उत्पन्न हुए ज्ञानके अनुभवमें जो आनन्द है वह आनन्द अन्यत्र कहीं है ही नहीं। ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको बनाकर अपने को कृतार्थ करें।

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

अभ्रान्तिकी प्रयोजिका भावना— पूर्व श्लोकमें यह बताया गया था कि यह जीव आत्माके तत्त्वको जानता हुआ भी और सर्वसे विविक्त ज्ञानमात्रकी भावना करता हुआ भी पूर्वकालीन भ्रमके संस्कारसे फिरसे भ्रांतिको प्राप्त होता है। यह जीव पुनः भ्रांतिको प्राप्त नहीं हो, एतदर्थ ज्ञान जग जाने पर हम ज्ञानमयी भावना ही बनाएँ, ऐसी स्थिति लाने के लिए इसमें कुछ भावना बतायी जा रही है। यह दृश्यमान् सारा विश्व अचेतन है और जो चेतन है वह अदृश्य है। दृश्यमान् अचेतनमें रोष तोष क्या करूँ, चेतन अदृश्य है उसमें रोष तोष क्या कैसे करूँ ? इस कारण मैं तो मध्यस्थ होता हूं।

दृश्यमान्की अचेतनता— जो-जो आंखों दिखता है—नाम लेते जावो आंखों क्या दिखता है ? ६ काय, चाहे जीव सहित हो, चाहे जीव

रहित हो अर्थात् सजीव ६ काय-- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस अथवा जीवत्यक्त-- ६ काय ये दिख रहे है। इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं दिख रहा है। ये ईंटपत्थर दिख रहे हैं, ये जीवत्यक्त पृथ्वीकाय हैं, ये पहिले पृथ्वीजीवके शरीर थे, इनमे जीव था, पर इन जीवोंने छोड़ दिया है इन स्थानोको और जो काठ कुर्सी मेज आदि दिख रहे हैं--ये भी जीवत्यक्त वनस्पतिकाय हैं। जो कुछ भी दिखते है वे सब अचेतन हैं। जिस कालमें जीव भी हो, इन शरीरोंमे उस कालमें भी जो शरीर है वह तो अचेतन है और शरीरमें रहने वाला जीव चेतन है। यह सारा दृश्यमान् लोक अचेतन है।

चेतनकी अदृश्यता-- जो चेतन है वह अदृश्य है, ज्ञानमात्र आनन्दघन भावस्वरूप यह चेतन तत्त्व न आंखो दिखता है, न किसी इन्द्रिय द्वारा गम्य है। इन्द्रियकी तो बात दूर ही रहो, मनके द्वारा भी गम्य नहीं है, साक्षात् सीधा आत्मस्वभावमे अनुभव होता है, मिलन होता है, परिचय होता है तो वहां मनका काम नहीं रहता। यह मन उपयोगमें आत्मदेवके निकट यों समझिये कि आंगन तक तो भेज देता है, इससे आगे जहां यह ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व जिस भावमे विराज रहा है वह सहज भाव वहां तक मनकी गति नहीं है। वहा केवल यह आत्मा अपने ही बलसे, पुरुषार्थ से स्वरसत' पहुंचता है, तो इन्द्रियकी तो कहानी ही क्या है ? जो चेतनतत्त्व है वह अदृश्य है।

रोष तोषका अनवकाश-- अब भला बतलावो जो दिखना है वह अचेतन है, जो चेतन है वह दिखता नही है। तो मैं किस चीजमें रोष करूँ और किस चीजमें तोप करूं। अचेतन-पदार्थोंमे रोष अथवा तोष करने से क्या फायदा है ? वे तो अचेतन हैं। इन पत्थरोंमें रोष तोष करने से क्या लाभ है ? अचेतनमें तो नादान बच्चे ही रोष तोप करेंगे, किन्तु ज्ञानवान् पुरुष इन अचेतन पदार्थोंमें रोप तोप नहीं करता है। बच्चे के सिरमें किवाड़ लग जाय तो बचा रोता है और मां उस बच्चे को दिखाकर समझाकर किवाड़में दो चार थप्पड़ लगा देती है। तूने मेरे ललनको मारा अब वह ललन शांत हो जाता, सतुष्ट हो जाता। इन अचेतन पदार्थोंके किसी भी परिणमनसे बालक अगर रुष्ट हो जाय, तुष्ट हो जाय तो हो जाय पर ज्ञानीपुरुष इन अचेतन पदार्थोके कारण न तो रुष्ट होता है और न तुष्ट होता हैं।

अचेतनपर रोपतोषके अनवकाशका कारण-- कहां मै रोष तोष करूं, ये अचेतन हैं, कुछ जानते ही नहीं हैं। गुस्सा करके इन्हें क्या मजा

चखाया जा सकता है ? गुस्सा आ जाय किवाड़के ऊपर, आग लगा दो तो उसमें किवाड़का क्या नुकसान है ? आग लग गयी, खाक हो गया, उड़ गया सूक्ष्म स्कन्ध बन कर राखके रूपमें, फिर भी उस किवाड़को क्या नुकसान पहुंचा ? दुःख तो उसमें हुआ ही नहीं, क्योंकि वह अचेतन है, अपने को यह मालूम पड़े कि इस परको दुःख हो गया या यह राजी हो गया, तब ही तो अपने को रोष तोष करने की गुन्जायश होगी, किन्तु अचेतन न दुखी होता और न राजी होता। ये दृश्यमान् सब कुछ अचेतन हैं।

चेतनपर रोष तोषके अनवकाशका कारण— जो चेतन है वह दिखता नहीं है। रोष और तोष करनेमें गुञ्जायश चेतनतत्त्वमें तो है वह जानेगा, इसमें राग करें तो वह सुखी होगा, दुःखी होगा, सुविधा देगा, सुख देगा, कुछ चेष्टा करेगा। निर्विकल्प सही लोक व्यवहारमें कुछ चेतन तत्त्वमें कौन रोष तोषमें ठीक ठीक सोचता है कि यहा रोष करना चाहिए। संतोष करना चाहिए, वह चेतनतत्त्व तो अदृश्य ही है, आंखों दिखता ही नहीं है। जो जानते हैं उनके लिए वह सामान्य स्वरूप रह जाता है केवल निस्तरंग शुद्ध ज्ञायकस्वरूप। ऐसे उस अदृश्य प्रतिभासमात्र चेतनमें भी कौन रोष करता है, कौन तोष करता है ?

देही जीव पर भी रोषतोषका अनवकाश— भैया ! कोई पुरुष किसी दूसरे पर क्रोध करता है तो क्या यह ख्याल करके क्रोध करता है कि यह शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व है। इस पर मैं नाराज होऊं, क्रोध करूं। क्रोध करने वाला तो सीधा जो कुछ उसे नजर आये— ये नाक, आंख, कान आदिका पुतला उसे ही देखकर क्रोध करता है, सो वहां भी यह केवल शरीर पर क्रोध न कर सकेगा। कोई शरीर पर क्रोध करता हो तो मर जानेके बाद फिर भी उस शरीरपर क्रोध करना चाहिये। सो सब जानो आत्मा पर भी कोई क्रोध नहीं करता। क्या कोई शुद्ध चैतन्यस्वरूपको जान-जानकर कुछ क्रोध कर सकेगा ? यदि वह लक्ष्यमें आ गया तो उस क्रोध करने वालेका क्रोध तो वहीं शांत, हो गया। किस पर रोष करूं और किस पर तोष करूं ? यह ज्ञानी जीव जिस भावनाके प्रसादसे फिर भी भ्रान्तिको नहीं प्राप्त हो, कोई भ्रमका संस्कार नहीं हो, यों भ्रांतिको प्राप्त न होनेके लिए ऐसी भावना करता है। कहां रोष करूं कहां तोष करूं।

भ्रमजालका अवस्तुत्व— भैया ! भ्रम ही और क्या है ? कुछ इष्ट लग जाना, कुछ अनिष्ट जंच जाना ऐसी जो आत्मभूमिकामें तरंग उठती है बस वही विभ्रम है, वही बेहोशी है। जैसे पागल पुरुष पागलपनमें बेहोशी

में कभी मां को स्त्री कहदे, कभी स्त्रीको मां कह दे और कभी मां को मां भी कह दे तो भी वह पागलपनमें कह रहा है, समझकर नहीं कह रहा है। ऐसे ही जगत्‌के समस्त पदार्थ न इष्ट हैं, न अनिष्ट हैं, किन्तु यह मोही पागल उन्मत्त हो रहा है। जिसे अपने आत्मस्वरूपकी खबर नहीं है वह किसी पदार्थको तो इष्ट मान लेता है और किसी पदार्थको अनिष्ट मान लेता है, बस यही है उसको मूर्छा, बेहोशी, विभ्रम। रोष और तोष करने के लायक जगत्‌मे कुछ है ही नही। अचेतनमें रोष तोषसे लाभ नहीं होता, यदि चेतनका लक्ष्य होता तो रोप और तोपका परिणाम ही न बनता। मै किस पर रोप करूँ और किस पर तोप करूँ ?

माध्यस्थ्यभावना— अब यह मै आत्मा मध्यस्थ होता हूं अर्थात् न हर्ष करता हूं और न विषाद करता हूं, केवल उनका जाननहार रहता हूं। जो पुरुष केवल जाननहार ही रहे। बस देख लिया, जान लिया, यहीं तक सीमित रहे, किसी पदार्थकी बुद्धिमें न फंसे न बोले तो वह पुरुष बन्धनसे दूर होता है और अलिप्त रहता है।

बोलनेसे साधुकी विब्चन— एक राजा जंगलमे साधुके पास बैठ गया। साधुकी समाधि खुली तो राजा निवेदन करता है कि महाराज, मेरे कोई पुत्र नही है, आशीर्वाद दीजिए। साधु कहता है कि तथास्तु, ऐसा ही होगा। अब राजा तो घर चला आया। कुछ दिन बाद साधुको ख्याल हो आया कि राजाको वचन दिया था कि पुत्र हो जाएगा, देखें तो संसारमें इस समय कोई मर तो नहीं रहा। मरता हो तो उसे रानीके उदरमें भिजवाऊँ। कोई नहीं मर रहा था। सोचा कि ओह, कहीं मेरे वचन झूठ न हो जाये, चलें खुद ही मर जावे और रानीके पेटमे चलें। सो साधु खुद मरा और रानीके उदरमे पहुंचा। पेटमें बहुत दुःख हैं, सकुचित शरीरसे रहना पड़ता है। सो वहीं तय कर लिया कि हम बोल गये थे राजासे, सो फंस गये। लेकिन अब उदरसे निकलने पर कभी बोलूँगा नहीं, बोलना बुरा है। उस राजासे बोल गया तथास्तु, तो मै फंस गया। तो जब उत्पन्न हुआ तो बोले नही। ८-९ वर्षका हो गया, गूंगा ही रहा। राजाने घोषणा करा दी कि जो मेरे राजपुत्रको बोलता कर देगा, उसे बहुतसा इनाम मिलेगा।

बोलनेसे चिड़िया व चिड़ीमारकी विब्चन— अब कुछ दिन बाद वह राजपुत्र बागमे घुम रहा था। उसी बागमें एक चिड़ीमार चिड़ियाको पकड़नेके लिए अपना जाल बिछाए हुए था। उस जालको समेटने लगा, जब कोई चिड़िया न दिखी। उसने जाल समेटकर घर जानेका इरादा किया, इतनेमे एक चिड़िया बोल गयी, सोचा कि अभी चिड़िया है, फिर

जाल फैलाया, कुछ दाने बिखेर दिए, फिर छिप गया। चिड़िया आकर उस जालमें फंस गयी। यह सब दृश्य राजपुत्र देख रहा था, उससे न रह गया, वह बोल गया, जो बोले सो फंसे। अब राजपुत्रके मुखसे इतने शब्द निकलते ही चिड़ीमारके हर्षका ठिकाना न रहा।

अब वह उस जालको वहीं छोड़कर सीधा राजाके पास पहुंचा और बोला कि महाराज ! आपका पुत्र बोलता है। राजाने कहा कि बोलता है ? चिड़ीमारने कहा कि हां बोलता है। अब राजाने उसे ५ गांव इनाममें दिए। अब आया राजपुत्र। उससे राजाने कहा कि बोलो बेटा कुछ। वह काहेको बोले ? गूंगाका गूंगा। राजाको गुस्सा आया कि चिड़ीमार भी हमसे हंसी मजाक करते हैं। अब उस चिड़ीमारको फांसीका हुक्म दे दिया।

बोले सो फंसे का विवरण— अब चिड़ीमार फांसीके तख्त पर लटकाया जाने वाला था। राजाने उससे पूछा कि तुम कुछ चाहते हो ? चिड़ीमार बोला कि महाराज ! मैं आपके लड़के से २ मिनट बात करना चाहता हूं। अच्छा करलो भाई। चिड़ीमार कहता है कि राजपुत्र ! मुझे मरनेका अफसोस नहीं, किन्तु अफसोस इसी इस बातका है कि लोग यह कहेंगे कि चिड़ीमारने झूठ बोला था, इससे फासी पर लटकाया गया। तुम और अधिक नहीं तो उतनी ही बात कह दो, जितनी बात तुमने बाग में कही थी।

अब राजपुत्रने उतनी ही बात क्या, सारी कहानी सुना दी। मैं पहिले साधु था, वहां राजासे बोल गया, सो फंस गया, फिर बादमें चिड़िया बोल गयी, सो वह फंस गयी, फिर यह चिड़ीमार राजासे बोल गया, सो यह फंस गया। इसको फांसीका हुक्म हुआ। इसलिए जो बोले वह फंस जाए। राजाने अपने पुत्रको बोलता हुआ देख लिया, फिर तो चिड़ीमार को फांसीसे उतार दिया।

स्वरूपकी अवद्धता और बाह्यदृष्टिका बन्धन:— भैया ! यह जगत् है, इसमें केवल देखे जाने इतनेमें तो सार है, किन्तु यहां बोले, इष्ट और अनिष्ट परिणाम करे तो उससे अवश्य फंस जाएगा। ये सब हम आप किस बातमें परेशान हैं ? यह बताओ। जान भी लिया धर्मका मर्म और स्वतन्त्र स्वतन्त्र सब जीव हैं—ऐसा पहिचान भी लिया, अपनी स्वतन्त्रता पर अपनेको दृढ़ विश्वास भी है। काहे की परेशानी ? लेकिन परेशानी सब पर है। छोड़कर भाग नहीं सकते, व्यवहार बन्धन लगा है, कहां जायें ?

अभी हम ही चौमासेको छोड़कर कहीं भाग नहीं सकते। हम भी बन्धनमें हैं। तुम घरको छोड़कर कहीं भाग नहीं सकते। तो बन्धन तो है, मगर बाह्यदृष्टिसे उपयोगको ओझल करें और जरा अन्तरमें प्रवेश करें तो जो बंधा है; वह बंधा रहे, शरीर बँधा है तो बँधा रहे, एक क्षेत्रमें पड़े हैं तो पड़े रहें; किन्तु स्वतन्त्र अबद्ध प्रतिभासमात्र इस चित् प्रतिभासका जो अवलोकन करता है, वह कुछ भी बद्ध नहीं है, अबद्ध है।

भावका प्रताप— भैया! यह जीव भावोंसे ही तो बंधा है और भावोंके बलसे ही मुक्त है। जैसे शिखर पर फहराती हुई ध्वजा अपने आपके ही अंगसे अपनेमें उलझ जाती है और अपने स्वरूपमें विस्तृत अवयवों से सुलझ जाती है। हां, वहां पर वायुका बेढंगा चलना तो उसके उलझनेमें निमित्त और वायुके निमित्तका हट जाना उसके सुलझनेका निमित्त है। इसी तरह हम आप जीव भावोंसे ही तो बंधे हैं और भावोंसे ही मुक्त हुवा करते हैं। हां इसमें निमित्त विधिका है, कर्मका है। देखो इस समय हवा नहीं है और इसीसे न होनेसे कुछ परेशानी अनुभव की जा रही है, ऐसी दृष्टिमें भी जरासी हिम्मत करके बाह्यदृष्टिको त्याग करके मैं शरीर तक भी नहीं हूं, मैं केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, यदि बन सके ऐसा अनुभव तो

होता हूं।

मध्यस्थताका मर्म— मध्यस्थ किसे कहते हैं? जो न रागकी ओर जाये और न द्वेषकी ओर जाये। मध्यस्थ गवाह होता है। गवाहका दर्जा जजसे भी बड़ा है, लेकिन स्वार्थकी करामात है कि गवाह डेढ़-डेढ़ रुपयेमें बन जाया करते हैं। गवाह कहो, साक्षी कहो, प्रभुका स्वरूप कहो, पक्षपात रहित कहो—एक बात है। गवाह किसी पुरुषका नहीं हुआ करता, किन्तु स्वरूपका, घटनाका गवाह हुआ करता है, किन्तु न्यायालय ही उल्टी बात सिखा देता है। जज पूछता है वादीसे अथवा प्रतिवादीसे कि तुम्हारा गवाह कौन है? इसका अर्थ हुआ कि तुम्हारी जैसी जो कहे—ऐसा आदमी कौन है?

वह झट कह उठता है कि जज साहब ठहरो, मैं अभी पांच मिनटमें गवाह लाता हूं, मेरा गवाह बाहर है। वह झट बाहर गया और किसी भी देहातीको समझा दिया कि आप ऐसा कह देना और उसे डेढ़ दो रुपये दे दिये। वह देहाती अगर समझदार है, चतुर है, तब तो कह देगा और यदि जजने और कुछ पूछ लिया व वह देहाती चतुर नहीं है तो कह देगा कि हमें इस सम्बन्धमें तो कुछ नहीं बताया, लो सारी बात बिगड़ जायेगी। होते हैं कोई ऐसे सरल लोग। जिनमें विकार न हो ऐसे पुरुष होते हैं। मध्यस्थ, साक्षी, दर्शी, ज्ञाता ये सब बहुत उत्कृष्ट तत्त्व हैं। मैं तो मध्यस्थ होता हूं।

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
बहिरन्तरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः॥४७॥

अज्ञानी और ज्ञानीके त्याग उपादानकी चर्चा— पहिले श्लोकमें यह बताया गया था कि ज्ञानी पुरुष ऐसी भावना रखता है कि जितने दृश्यमान् पदार्थ हैं वे तो अचेतन हैं, सो अचेतनसे रुष्ट तुष्ट होनेसे लाभ क्या है और जो चेतन है वह अदृश्य है, उससे रुष्ट और तुष्ट कैसे हुआ जाय? इस कारण यह मैं कहां रोष करूँ और कहां तोष करूँ, मैं तो मध्यस्थ होता हूं। जब रुष्ट और तुष्ट होनेकी भावना होती है तब बाहमें त्याग और ग्रहणकी प्रवृत्ति चलती है। जिसमें मन न भरा उसका त्याग कर दिया जाता है और जिसमें मन भरा उसको ग्रहणकर लिया जाता है। तथा जब रोष तोष मिटाने वाला ज्ञान जगता है तब अध्यात्म ग्रहण त्याग होता है। तो इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि अज्ञानी जीव त्याग और ग्रहण कैसे करता है तथा ज्ञानी जीव त्याग और ग्रहण किस प्रकार करता है?

अज्ञानीके त्याग उपादानका भाव— अज्ञानीके पदार्थोंमें सम्बन्ध माननेका परिणाम हुआ है। इस कारण इन बाहरकी बातोंमें ही त्याग करता है और बाहर ही बाहर ग्रहण करता है। मोही पुरुष घरका त्याग करे, वैभवका त्याग करे और त्याग करके खुश होवे कि मैंने त्याग कर दिया, मैं त्यागी हो गया हूं और धर्मके मार्गमें चल रहा हू, किन्तु उस अज्ञानी को यह खबर नहीं है कि यह मै आत्मा तो केवल ज्ञानानन्द मात्र हू, इसमें किसी परका प्रवेश नहीं है, ग्रहण ही नहीं है। यह किसी परको नही ग्रहण कर सकता है, और फिर त्याग भी कैसे कर सकता है? जो चीज अपनी नहीं है उसमे त्यागका क्या व्यवहार? आप यदि दूसरेके घर को दान कर दे तो क्या यह कोई त्यागकी सही पद्धति है? क्या हो जायेगा दान? तो जैसे जो चीज अपनी नहीं है उसका त्याग नहीं किया जा सकता, यो ही आत्मतत्त्वमे देखिये मेरे आत्मामें घर चिपका नहीं है फिर घरका त्याग क्या? आत्माकी सावधानी रखकर सुनिये।

परवस्तुके अपनानेका अपराधी— श्रद्धामें तो बाह्य वस्तुको अज्ञानी ने अपना रक्खा है। मेरे घरमें इतना वैभव है अथवा इतना ठाठ है, ऐसी इज्जत है और परमार्थसे है कुछ नही। केवल यह ज्ञायकस्वरूप मात्र है। तो भैया! एक बात बता दोगे क्या कि जो परवस्तुयें हैं उनको जो अपनाये उसका नाम आपने क्या रक्खा है? चोर और ये अपने कुछ भी पदार्थ नहीं है जैसे ईंट, पत्थर, सोना, चांदी, रत्न वैभव। मैं तो अपने आपके केवल ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभुकी तरह शुद्ध ज्ञानमात्र हू और फिर कोई माने कि यह मेरा वैभव है तो परवस्तुको जो अपनाले तो उसका भी नाम क्या पड़ जाना चाहिए? अब तो उत्तर देनेमे आपकी जबान रुक रही है। पहिले तो बड़ी जल्दी कह दिया कि परवस्तुको जो अपना ले, अपनी बनाले अथवा परके घरमें रक्खी हुई चीजको उठाकर अपने घर ले आये उसका नाम चोर है, पर अब यही बात कहनेमें अब आपको कुछ रुकावट हो रही है। अरे जो परपदार्थ है, अपने आत्माके स्वरूप नहीं हैं, असार जो धन वैभव, मकान, कुटुम्ब परिवार हैं, उनको जो जबरदस्ती अपना बनालें उसका भी नाम परमार्थसे क्या है? चोर है। वाह भाई अब तो डरकर बोल रहे हो।

कल्पनाओंका व्यर्थ बोझ— लेकिन जब सभी चोर हैं तो चोर-चोर एक दूसरेको बुरा कहें कैसे? और उसही चोरीकी सीमामें व्यवस्था और कानून बन गए और राज्य शासन चल रहा है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से यह सारा जगत् चोरोंसे भरपूर है। अच्छा इस लोकव्यवहारके चोर

ने दूसरेकी चीज उठाकर क्या अपने आत्मामें धरली ? नहीं। वह चीज तो बाहर ही रक्खी हुई है। आत्मामें धरा नहीं जा सकता कोई भी पर-पदार्थ। या ही जो आता मानता है उसने क्या वैभव मकान आदिक को अपनेमें रख लिया ? नहीं रख सकता है किसी भी चीजको। केवल कल्पना की जा रही है और कल्पनाओंका इतना बड़ा बोझ अपने आप पर लादे हुए है।

धनकी कल्पनासे बड़े भाईकी कुबुद्धि— दो भाई थे। वे समुद्रके उस पार किसी द्वीपमें कमाने चले गए। बड़ा और छोटा भाई था। खूब कमाया धन और बादमें उस सारी कमाई को संक्षिप्त करके दो रत्न एक एक लाख रुपयेके खरीद लिए। अब वे दोनों रत्नोंको लेकर अपने घरके लिए चले तो समुद्रमें जब जहाजमें चल रहे थे तो दोनों रत्न थे बड़े भाई के पास। बड़ा भाई सोचता है कि इस समय यदि मैं इस छोटे भाई को ढकेल दूं समुद्रमें तो दोनों रत्न मेरे हो जायेंगे और परिश्रम तो मैंने बहुत किया, यह तो केवल बातें ही करता रहा। फिर थोड़ी देर बाद सुध आयी अहो, यह रत्न बहुत बुरी चीज है, इसके पीछे मेरे कितने खोटे परिणाम हो रहे हैं, तो बोला भाई ! ये रत्न तुम अपने पास धर लो। छोटा भाई कहता है कि आप ही रक्खे रहिये, बड़ा कहता है कि नहीं मै तो इन्हें अपने पास न रक्खूंगा।

धनकी कल्पनासे छोटे भाईकी कुबुद्धि— अब बड़े भाईने जबर्दस्ती उन दोनों रत्नोंको छोटे भाईके पास रख दिया। थोड़ी देर बाद उस छोटे भाईकी भी बुद्धि खराब हुई। उसके मनमें आया कि ये दोनों रत्न कमाये तो हमने हैं और घर जाकर बंट जायेंगे, ऐसा करें कि समुद्रमें बड़े भाई को ढकेल दें तो ये दोनों रत्न फिर हमें मिल जायेंगे। फिर सुध आयी ओह मैंने इन रत्नोंके पीछे कितने खोटे परिणाम किए। वह बोला—भैया मैं इन्हें अपने पास न रक्खूंगा, आप ही इन्हें अपने पास रक्खें। बड़े भाई ने समझाया कि रक्खे रहो, घर तक तो ले चलो—छोटा भाई बोला मैं तो इन्हें अपने पास न रक्खूंगा, चाहे इन्हें समुद्रमे फेंक दो।

धनकी कल्पनासे बहिनकी कुबुद्धि— खैर किसी तरह घर पहुंचे तो दोनों भाइयोंने सोचा कि ये रत्न अपन तो रखते नहीं, बहिनके पास रख दें। बहिनसे कहा तो बहिनने अपने पास दोनों रत्न रख लिये। उस बहिनके भी खोटे भाव हो गये कि इन दोनों भाइयों को विष दे दे, ये मर जायेंगे तो ये दोनों रत्न मेरे हो जायेंगे। फिर सुध आयी, ओह यह मैं क्या कर रही हू। ये दोनों ही रत्न बड़े खराब हैं, सो भाइयोंसे बोली कि मैं ये

रत्न अपने पास न रक्खूंगी, इन्हें तुम जानो ये पडे हैं।

धनकी कल्पनासे माताकी कुबुद्धि— अब भाइयोंने सोचा कि चलो मां के पास रख दें। मां के पास रख दिये। मां बूढ़ी थी। बुढ़ापेमें तृष्णा ज्यादा उपज हैं। उसने सोचा कि ये दोनों रत्न हम छिपाकर रख लेंगी तब तो हमारे बुढापेमे खूब सेवा होगी नहीं तो कौन पूछेगा? यह विचार कर उसने अपने पास रख लिये और उन दोनों पुत्रोंको मारने तकका भी सोच लिया। फिर सुध आयी तो कहा अरे बेटा, यह कहांसे विष ले आये हो, जावो इन रत्नोंको समुद्रमें फेंक दो! ये किसी कामके नहीं हैं। आखिर वे रत्न समुद्रमे फेंकने पड़े, तब शांति हुई।

व्यामोहसे अविवेकका नाच— क्या हैं यह धन वैभव? व्यामोहमे दूसरोंके प्रति मनमें क्यासे क्या सुध बैठ जाती है? यह मोही जीव बाह्य-पदार्थोंमे ही त्याग और ग्रहणकी बुद्धि करता है, किन्तु जो अध्यात्मयोगी पुरुष हैं, आत्माके मर्मके ज्ञाता पुरुष हैं वे ग्रहण और त्यागकी बात अपने आत्माके भीतर ही किया करते हैं। धन तो उसने ग्रहण किया ही नहीं तब उसका त्याग करना क्या? वह तो छूटा ही हुआ है, किन्तु धनविषयक जो मोह लगा रखा है, जो चक्कीमे घुनकी तरह उसे पीसे डाल रहा है। उस राग और मोहका त्याग करना है। मोहका कितना कटुक नाच है कि विवेक अविवेक कुछ नहीं रहता है।

व्यामोहसे भगतकी कुबुद्धि — एक साधु महाराजने चौमासा किया एक गांवके निकट जंगलमें। एक श्रावक के मनमे आया कि मैं इस चौमासे में साधुजीके पास रहूं। उसके घरका लड़का कपूत था। सो रत्न, हीरे-जवाहरात, सोना-चांदी कमाईकी चीजे एक घडेमें भरकर जंगलमे मुनि महाराज जहां ठहरे थे, वहीं एक गड्ढा खोदकर घडेको दबा दिया। चौमासा पूर्ण होनेके बाद साधु तो चले गये, अब इतनेमे ही वह घड़ा भी गायब हो गया। हुआ क्या, यह बादमे बतावेंगे। अब वह श्रावक दूसरे गांवमें साधुके पास पहुचा और वहां ऐसी कहानी कही कि जिसमें यह बात भरी थी कि महाराज! हमने तो चार महीने आपकी सेवा की और तुमने हमारा ग्यारहवां प्राण हर लिया। साधु उत्तरमे ऐसी कहानी कहे कि बात कुछ और हुई है और तुम व्यर्थ ही धर्मात्माजनों पर शक करते हो। ये कहानी सेठ (श्रावक) ने कही और ये कहानी उसके उत्तरमें साधुने कही। सेठ सब अर्थ समझता जाये और साधु भी सब अर्थ समझता जाये।

[illegible] भी साधुताका उद्गम:— यह सब देख सुन रहा था सेठ

का कपूत लड़का। उसके मनमें इतना वैराग्य आया कि ओह इस धन वैभवके पीछे हमारे पिता धर्मात्मा साधु संतों पर ऐब लगा रहे हैं, वह बोला कि पिताजी, वह घड़ा मैं उठा लाया। मैंने तुम्हें इसे गाड़ते हुए देख लिया था, मौका पाकर मैं निकाल ले गया था। अब वह सारा धन आपका है, घरमें आप रहें, मैं घरमें अब पैर न रक्खूँगा। इस अपार संसार में धोखेसे भरे छलपूर्ण जगत्मे अब क्या रहना? विरक्त हो गया और वह साधु बन गया।

ज्ञानीका त्यागोपादानविषयक विचार— तो आप देखो कि इस संसारमे धन वैभवके व्यामोहमे लोग कितना न्यौछावर होते जा रहे हैं? उसमें कौनसी आत्महित करनेकी कला पड़ी हुई है? ज्ञानीपुरुष जानता है कि बाहरी पदार्थ तो अत्यन्त भिन्न हैं, उनका मैं त्याग और ग्रहण कर ही नहीं सकता, केवल उन बाह्यपदार्थविषयक अपनी कल्पनाएँ बनाता ही रहता हूं। सो मैं उन रागद्वेषसे भरी हुई कल्पनाओंको त्यागूँ और शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ग्रहण करूँ। यही त्याग और ग्रहण करने योग्य तत्त्व है। उसका त्याग करना है, जिसको ग्रहण किये हुये हैं व जिसके कारण बड़ी बुरी तरहसे बरबाद हुये चले जा हैं। किसका त्याग करें? अहंकार और ममताका त्याग करें।

आत्मवेदी और निष्ठितात्माका त्याग और उपादानः— भैया! जो पुरुष सम्यग्ज्ञानके बलसे समस्त बाह्यपदार्थोंसे भिन्न ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव करता है, उसने जो पाया उससे उत्कृष्ट इस लोकमें कहीं कुछ है ही नहीं। आध्यात्मयोगी संत अपने आपमें कुछका त्याग करते हैं और किसी तत्त्वका ग्रहण करते हैं। ऐसे ये दो तरहके अभी पुरुष हुए। कौन कौन? मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्दृष्टि जीव। यहां अभी ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष बताया है जो अभी ज्ञानयोगमें अभ्यास करता चला जा रहा है। अब तीसरे पुरुषकी कहानी सुनो—

जो ज्ञानयोगमें पूर्ण अभ्यस्त हो गया है, उसके लिए न बाहरमें कुछ त्याग करना है और न बाहरमें कुछ ग्रहण करना है तथा न अन्तरंगमें कुछ त्याग करना है और न अतरंगमें कुछ ग्रहण करना है। वह तो निष्ठितात्मा हो गया है, कृतकृत्य हो गया। मोहसे बढ़कर जगत्में विपदा नहीं है। विपदा और कुछ है ही नहीं। सिवाय मोह और रागद्वेषके इस जीवमे कोई झंझट है ही नहीं।

सम्बोध्योंको सम्बोधन— ये बाह्यदृष्टि वाले मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव बाह्यपदार्थोंको छोड़ते हैं और ग्रहण करते हैं। मैंने घर छोड़ दिया।

अरे घरको ग्रहण कब किया था, जो छोड़ा कह रहा है। यह कह कि मैंने छोड़ दी घरकी ममता। ममता छोड़ दोगे तो घर छूट ही जाएगा। घरको छोड़नेमें तू समर्थ नहीं है और न घर ग्रहण करनेमे तू समर्थ है, एक अपने विभावोंको तू ग्रहण किया करता है और विभावोंको ही छोड़ा करता है। देखलो – अपने आपमें आपने आपका नंगा स्वरूप। बाहरमे कहां नग्न साधुको देख रहे हो? वह तो परमेष्ठी है ही, पर अपने आपमें सदा जो नग्नस्वरूप रहता है, केवल निजस्वरूपमात्र परके सम्बन्धसे रहित ऐसे इस आत्मतत्त्वको तो देखो कि यह अपनें सत्त्वमात्र है, इसकी जिसे रुचि हो गई है, वह पुरुष कृतार्थ हो गया है।

आत्मवेदीकी वृत्ति— जिसको आत्मतत्त्वकी रुचि जग चुकी है, वह बाहरमें अपना सम्मान और अपमान नहीं समझता है। ओह सारा जहान भी मुझे बहकाये अथवा निन्दाभरी बात बोलें तो भी यहां कुछ परिणमन होता ही नहीं है। वे सब मायारूप है। जो कहते हैं कहें। मै तो अपने स्वरूपमात्र हूं। क्या छोडना है? अपने आपमे अज्ञान जो बस रहा है, उसे त्यागना है। रागद्वेप जो बस रहे हैं, उसे त्यागना है। बाह्यपदार्थ तो सब धूल हैं। मुग्धप्राणी धूलमे मस्त हो रहे हैं। अरे इस बाह्यधूलकी ममतासे इस चैतन्य आत्माका क्या लाभ होगा? कुछ तो सोचो। मिला है कुछ और होता है उससे उपकार दूसरोंका। तो दूसरोंका उपकार करनेकी उदारवृत्ति रखो। इस उदारवृत्तिसे इस जीवनकालमें बहुत अधिक लाभ मिलेगा। सम्यग्ज्ञान रखो—

पुत्र कुपूत तो क्या धन संचे,
पुत्र सपूत तो क्या धन संचे।

अज्ञानीका बेकायदा अट्टसट्ट व्यामोह— जगत्के इन अनन्त जीवों में से घरमे बसने वाले दो चार जीवोंको इतना महत्त्व दे दिया है कि तराजूके दो पलड़ो, पर एकमें आपके घरके दो चार आदमी बैठ जाये और दूसरे पलड़ेमे सारे जगत्के जीव बैठा दिये जायें तो भी आपके लिये अपने घरके दो चार जीवोंका ही पलड़ा भारी होना है। ओह इन दो चार जीवोंके बराबर भी जान क्या जगत्के इन अनन्त जीवोंमे नहीं है? कितना मोहका अन्धकार पड़ा हुआ है जीवोंमे कि उन्हें अपने आत्मस्वरूपका भान नहीं होता। कौन पराया है और कौन अपना है? जिन्हें पराया मानते हो, वे यदि आपके घरमें पैदा हो गये होते तो उन्हें अपना मानते। तुम्हारा मानना तो अटसट है, कोई कानूनकी विधिसे नहीं है। जो भी अपने सामने आ जाए, उसे मान लिया कि मेरा है। यह बहिरात्मा पुरुष

बाह्यपदार्थोंमें ही त्याग और ग्रहण का विकल्प किया करता है।

संतोंके उपदेशके धारणमें ही जीवनका यथार्थ मूल्य-- यह सब आचार्य ऋषी संतोंकी वाणी है, उनका उपदेश है। ग्रहण कर लिया जाय तो भला ही है और न ग्रहण किया जाय तो समय तो गुजर ही रहा है। एक बार कोई स्वर्णकार दो पुतलियां पीतलकी बिल्कुल एकसी बनाकर राजदरबारमें पहुंचा। वहां जाकर स्वर्णकार कहता है कि इन पुतलियोंको कोई खरीदना चाहे तो खरीदले। एक पुतलीका मूल्य तो है एक लाख रुपया और एक पुतलीका मूल्य है एक रुपया। लोगोंने सोचा कि दोनों ही पुतलिया एक समान हैं लेकिन एक का मूल्य एक लाख रुपया बता रहा है और एक का मूल्य १ रुपया बता रहा है। लोग बहुत हैरान हो गये। आखिरमें राजा बोला कि ऐ स्वर्णकार! अब तेरी कलाका यहां कोई पहिचानने वाला नहीं है, तू ही बता कि एक पुतली एक लाखकी और एक पुतली एक रुपयेकी क्यों है? तो स्वर्णकार एक पुतलीके कानमें एक सींक डालता है और दूसरे कानसे निकाल लेता है और एक पुतलीके एक कानमें सींक डालता है तो वह सींक गलेसे पेटमें गिर जाती है। कहता है स्वर्णकार कि देखो यह पुतली यह शिक्षा दे रही है कि जो सुनो वह हृदयमें उतारो और यह एक पुतली यह बता रही है कि इस कानसे सुनो और इस कानसे निकाल दो। इसी लिए इन दोनोंके मूल्यमें इतना बड़ा अन्तर है।

अध्यात्मप्रयोगका अवग्रह-- भैया! यह अध्यात्मयोगकी बात केवल सुन ली जानेकी नहीं है, इससे लाभ कुछ न होगा। कुछ हिम्मत करो, साहस बनावो कि इस ममता डाइनको दूर करें। क्यों व्यर्थकी परेशानियां सही जा रही हैं? एक भीतरमें केवल भाव ही तो बदलना है। सबसे विविक्त केवल ज्ञानमात्र अपने आपको ही तो निहारना है। क्यों नहीं किया जाता इतना स्वाधीन सुगम कार्य? अभ्यास करते-करते सब बातें सरल हो जाती हैं। कमसे कम यह तो अपने आपमें निर्णय बना लो कि बात यह सत्य है और इस ही मार्ग पर मुझे चलना है। छोटे बच्चोंमें, नातियोंमें, पोतियोंमें इतना मोह बसा-बसाकर क्या प्रोग्राम बना रहे हो, कुछ हमें भी तो सुना दो। अपने मनमें ही प्रोग्राम बनाये जा रहे हो, कुछ लोगों को भी तो बता दो।

व्यामोहके परिणामका परिणाम-- लोग किसी वृद्ध पुरुषके मरने पर कहते हैं कि सोनेकी सैनी बना दो और उसे चिताके साथ रख दो। क्यों भाई? यह उस सैनी पर चढ़कर स्वर्ग जायेगा। पर यह तो बतावो कि जिस बूढ़े ने लड़कोंमें मोह बसाया है, लड़कोंके लड़कोंमें मोह बसाया

है और उसके भी लड़कोंमें मोह बसाया है, चार पीढ़ीके मोहमें जिसने जीवन खो दिया है वह पुरुष उस सैनीका उपयोग चढनेमें ही करेगा या उतरनेमें ? क्या उस सैनीका उपयोग उतरनेमें नहीं हो सकता ? बतावो। उसे चढ़ा करके जितनी दूर भेजना चाहते हो उतना ही उतर करके भी वह नीचे पहुंच सकता है। छोड़ो विकल्पजालको। अपने आप पर कुछ तो दया करो, ममतासे सर्वथा नाता तोड़ो।

त्यागोपादानविषयक त्रिविध पदवियां— यहां तीन तरहके जीव बताये हैं। मोही जीव तो बाह्यपदार्थोंमें त्याग और ग्रहणकी खटपट किया करता है और ज्ञानीपुरुष अपने आपके आत्मामें ही रागद्वेषको छोड़नेकी और ज्ञानभावना को पकड़नेकी कोशिश किया करता है, किन्तु जो निष्ठितात्मा है, ज्ञानी है वह न बाहरमें कुछ ग्रहण और त्याग करता है, न अन्तरमें ही कुछ ग्रहण और त्याग करता है। वह तो मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहा करता है।

त्रिविध आत्मा— जो जीव बाह्यपदार्थोंमें ही त्याग करने और ग्रहण करनेका यत्न करते हैं उन्हें क्या कहते हैं ? मिथ्यादृष्टि जीव और जो अपने आपके आत्मामें कुछ ग्रहण करनेका और कुछके त्याग करनेका यत्न करते हैं उन्हें क्या कहते हैं— अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव। जो न बाहरके पदार्थोंमें त्याग अथवा ग्रहण करने का विकल्प करते हैं और न अपने आत्मामें कुछ त्याग करने और कुछ ग्रहण करनेका विकल्प करते हैं उन्हें क्या कहते हैं— परमात्मा अथवा सिद्धयोगी या निष्ठितात्मा। अब इन तीनोंमें पहिचानते जाइये निराकुलता की डिगरियां। अज्ञानी जीवको त्याग करनेमें भी आकुलता है और ग्रहण करनेमें भी आकुलता है।

अज्ञानपूर्वक त्यागसे स्वपरविपदा— अज्ञानी बहिरात्मा पुरुष ग्रहण करता है वहां तो विपदामें है ही, पर वह छोड़दे कुछ तो अपने को भी विपदामें डालता है और दूसरेको भी विपदामें डालता है। कोई अज्ञानी पुरुष घर गृहस्थीका त्याग करता तो वह दूसरोंको भी दुःखी कर डालता है अपने को तो दुःखी करता ही है। अज्ञानीको कहां शांति है ? ग्रहण करे तो अशांति, त्याग करे तो अशांति। अज्ञानी पुरुष किसी वस्तुका ग्रहण करता रहे तो खुद अशांत रहेगा, दूसरों पर भी अच्छा असर न पड़ेगा। अज्ञानी पुरुष यदि त्याग कर बैठे तो समाजके लोग भी उससे परेशान हो जायेंगे, अपने को तो वह दुःखी करेगा ही। यह है अज्ञानियोंके त्याग और ग्रहण की स्थिति।

अन्तरात्मा द्वारा ग्रहण और त्याग— अब ज्ञानाभ्यास रखने वाले

अन्तरात्मावों की बात देखो। वे बाहरमें त्याग करने और ग्रहण करनेकी वृत्ति नही रखते, किन्तु अपने आपमे ही खोजते हैं कि मुझे त्याग करना है रागद्वेष मोह भावोंका और मुझे ग्रहण करना है उस ज्ञानदर्शन सहज स्वभावका। इस तरहके अन्तरके यत्नमें, जल्पमें, विकल्पमें, कुछ आकुलता बसी हुई है, अन्यथा इतना परिवर्तन क्यों मचाता? क्रांति वही करता है जिसको किसी प्रकारकी अशांति हो। यह आत्मक्रांतिकी बात है।

निष्ठितात्माकी त्यागग्रहणविषयक वृत्ति— तीसरा आत्मा देखो— जो कृतार्थ है, पूर्ण निष्पन्न है, ऐसा निष्ठितात्मा प्रभु परमात्मा अथवा उत्कृष्ट ध्यानमें पहुंचे हुए योगी पुरुष श्रेणीमें रहने वाले साधुजन, उनके न आत्मामे त्याग करने, ग्रहण करनेका विकल्प होता है और न बाहरमें त्याग और ग्रहण करनेका विकल्प होता है। सबसे अच्छे कौन रहे? जिन्हें न भीतर कुछ छोड़ना ग्रहण करना है, न बाहर कुछ छोड़ना ग्रहण करना है।

अब ऐसी उत्कृष्ट असीम अवस्थाको यह आत्मा कैसे प्राप्त करे? इसके समाधानमें अब पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं।

युञ्जीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहार तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

क्लेशशून्य आत्मतत्त्वमें मनके संयोजनका संकेत— प्रथम तो अपने आत्माको मनके साथ संयोजित करो अर्थात् चित्त और आत्माका अभेद रूपसे अध्यवसान करके अन्तःप्रवेश करो या सीधा यो कहो कि मनको आत्मामें लगावो। इस जीवको कहीं भी रंच क्लेश नहीं है। कहां क्लेश है? यह तो ज्ञानमय है, आनन्दस्वभावी है। जैसा सिद्ध प्रभुका आंतरिक ठाठ है वही ठाठ यहां भी अतरगमें है। रंच भी क्लेशकी बात नहीं है। सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें सम्राट् हैं, बादशाह हैं। कोई किसीके आधीन नही। किसीका किसी अन्यसे सम्बन्ध नहीं। कौन दुःख है, क्या दुःख है, एकको भी दुःख नहीं है। अब स्वप्नकी तरह दिखने वाली इस दुनियामें मैं कुछ होऊं, मेरी पोजीशन यथावत् रहे, मै यहां कुछ कहलाऊं ऐसी जो दृष्टि बनती है, ऐसी दृष्टिसे आसक्तिके पहाड़ आ गिरते हैं, यह अहितकारी दृष्टि बनती है शरीरको आत्मा समझने पर। ये क्लेश बाहर से नहीं आते हैं, किन्तु यह जीव कल्पनाएं बनाकर स्वयं दुःखी हो रहा है।

संकटहारिणी मूल औषधि— भैया! किसी भी प्रकारकी घबड़ाहट हो, किसी भी प्रकारकी चिंता हो, सबकी मूल औषधि एक है अपने आप का जैसा सबसे न्यारा ज्ञानमात्र स्वरूप है, वैसा समझनेमें लग जावो मैं सबसे न्यारा हू, इस मुझ अमूर्त तत्त्वको कोई जानता ही नहीं है, यह

किसीके द्वारा अलगसे जानने योग्य ही नहीं है। वह तो सब स्वरूपमें एक-रस एकस्वरूप है। इसमें भेद नहीं है। मुझे कौन पहिचानता है? ज्ञानयोग ही एक अमृततत्त्व है, ज्ञानका ही सर्वत्र एक प्रताप है और कोई प्रताप प्रताप ही नहीं है। ज्ञानसे ही यह प्राणी सुखी होता है, ज्ञानसे ही यह लोक में पूजित होता है, ज्ञानसे ही यह इस लोक और परलोकमे सुखी होता है। ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जाने और ज्ञानमात्र ही मैं हूं--ऐसा अपने आपके बारेमें अनुभव करे, वह है वास्तविक ज्ञान।

जो ज्ञान अपनेको नानारूप माने-- मै अमुक लाल हूं, अमुक चन्द हूं, अमुक प्रसाद हूं, अपनेको नानारूप माने और जो देह है, उस देहमे ही यह मै हूं--ऐसा परिणाम बनाए तो वह कहीं भी जाये, सुखी नहीं रह सकता है, क्योंकि दुःखका जिससे सम्बन्ध है, वह काम छोड़े, तब जाकर सुखी होगा।

निजके एकत्वके प्रत्ययकी आवश्यकता-- भैया! सुखी होना है तो एक अपने उस एकत्वस्वरूपको देखो। समयसारग्रन्थमें जब नमस्कार विधि करके संकल्प किया, मैं क्या करना चाहता हू, तो बताया है कि मैं एकत्वविभक्त आत्माको दिखाऊँगा। पूरे समयसारमें इसके वर्णनका प्रयो-जन है सबसे न्यारे ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको समझानेका। तो समझ लो इस वास्तविक औषधिका जब चाहे प्रयोग करो, हिम्मत बनाओ। हिम्मत बनानी ही पड़ेगी, किसी भी तरहकी हिम्मत बनाओ। मरणके समय सब कुछ छोड़कर जाना ही होगा। जब मरते समय सब कुछ छूटता हुआ देख रहे हैं, उस समय भी हिम्मत बनानी पड़ेगी। बनाते ही हैं। जब छोड़कर जा रहे हैं, लाचार हो जाते हैं, संग कुछ आता नहीं है। हिम्मत बनाता है कि नहीं बनाता है मरने वाला? यदि कुछ हिम्मत जीती अव-स्थामे ही बना ली जाये कि मेरा कुछ नहीं है, मेरा तो मात्र यह निजस्वरूप है, ऐसी हिम्मत बना ली जाये तो जीवित अवस्थामें भी कुछ शांति तो रहेगी।

शांतिका कारण सम्बन्धविच्छेद-- अशांतिका कारण तो परवस्तु में अपना सम्बन्ध मानना है। इसके अर्थ सर्वप्रथम उपाय यह करो कि मन को संयोजित करो। फिर इस ज्ञान द्वारा इस आत्मतत्त्वको जानते रहो और वचन तथा कायसे इसको अलग करो। अपने साथ तीन तत्त्व मन, वचन और काय लगे हैं। इनसे निकट सम्बन्ध मनका है, फिर उसके बाद का सम्बन्ध वचन और कायका है। सर्वप्रथम वचन और कायसे अपनेको न्यारा जान लो और फिर मनको और आत्माको छोड़ो। वहां पर भेदज्ञान

करो। वचन और कायको आत्मा न समझो और जो मन आत्मज्ञानरूप है, उस मनको आत्मामें जोड़ दो, आत्माके स्वरूपके परिज्ञानमें मनको लगा दो। पहिले यह काम करना है, फिर वचन तथा कायसे किए हुए व्यवहार को मनसे छोड़ देवो।

क्या करना है ज्ञानीपुरुषको? अन्तरङ्गमें रागादिक विभावोंका त्याग करना है और आत्माके गुणोंका ग्रहण करना है। इस प्रयोजनके लिए क्या करना चाहिये? आत्माको मानस ज्ञानके साथ तन्मय करना और फिर वचन और कायसे किये गये सर्वकार्योंको छोड़कर आत्मचिंतन में तल्लीन होना।

ज्ञानीकी प्रवृत्तिमें उदासीनता— ऐसा ज्ञानी पुरुष कभी प्रयोजनवश किसी बाग्कामसें लगता है तो उदासीनभावसे, अरुचिपूर्वक किसी रोगीके दवा पीनेकी तरह किया करता है। कोई रईस आदमी रोगी हो जाए तो कितने आराममें उसे रक्खा जाता है? बहुत बढ़िया सुगंधित साफ सुथरे कमरेमें बड़े आरामसे रक्खा जाता है, दसों आदमी बड़े प्रेमसे बोलते हैं, खूब खबर लेते हैं और उसकी कुछ आज्ञा भी मानते हैं—ऐसा रोगी पुरुष बड़े आरामसे पड़ा हुआ है। वह औषधि भी करता है। समय पर औषधि न मिले तो उस औषधिके लिये क्षोभ भी करता है—क्यों नहीं समय पर दवा लाये? पर यह तो बताओ कि क्या उस रोगीके मनमें यह बात है कि मैं ऐसे ही आरामसे जीवन भर रहूं? यद्यपि उसके आराममें कोई बाधा आ जाए तो वह उस पर विवाद करता है, इतने पर भी उसके मनमें यह नहीं है कि मेरेको ऐसा सजा कमरा, ऐसा सुन्दर पलङ्ग, ऐसी दवा जिंदगी भर मिलती रहे।

उसकी तो यह भावना है कि मैं कब दो मील दौड़ने लगूँ, परिश्रम करने लगूँ, यह मेरी दवा कब छूटे—ऐसी उसकी भावना रहती है। इस भावनाके साथ साथ वह अरुचिपूर्वक उन सब कार्योंको करता है। यों ही ज्ञानी गृहस्थ जिसे यह निर्णीत हो चुका है कि मेरा कल्याण मेरे आत्माके दर्शनमें है—ऐसे निर्णय वाले ज्ञानी गृहस्थको बाहरमें कुछ करना पड़ता है, कमानेके, दूकानके, परिवारके, सेवाके और पोषण आदिके समस्त कार्योंमें लगना पड़ता ही है, फिर भी वह कभी भी अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होता है।

सहजकला— एक कोई हंस जंगलमें फिरता हुआ सरोवरके निकट रहता हुआ बड़ी सुन्दर चालसे चल रहा था। एक पुरुषको उस हंसकी चाल बहुत पसन्द आयी तो वह उस हंसको पकड़कर घर ले आया और

उसे मोती चुगाने लगा, और बड़ा मिष्ट उसके योग्य आहार देने लगा। खूब उसे सुखसे रक्खा। फिर एक दिन वह पुरुष बोला कि हे हंसराज! जैसी चाल तुम उस सरोवरके तीर पर चल रहे थे, वैसी चाल हमें फिर दिखा दो। हसने कहा कि वह चाल तो उसी जगहकी थी। यहां तुम्हारे निकट बनावटी चाल करें तो वह बात नहीं आ सकती है।

जो आत्मा स्वतन्त्र निजस्वरूपको देखकर अपने आपके आत्मउपवनमें विहार और विलास करता है, रमण करता है और जो शाश्वत सहजआनन्द प्राप्त करता है, वह अनुभवन किसी भी बनावटमें, किसी भी संसर्गमें, किसी अन्यकी शरणमें आ नहीं सकता है। इस ज्ञानी संत गृहस्थको अपनी आत्मभूमिका में अपने सहजस्वरूपके अवलोकनका आनन्द जग गया है। अब उसे बाहरमें किसी पदार्थमें अपना मन नहीं लगाना है।

दुर्विलासका परिहार— यह हितमय अपनी बात जिस गृहस्थ संतमें हो जाये, उसका भला है। ये डेढ दिनके जीने वाले लोग कुछ भला कह दें, कुछ अच्छा कह दें, इनमें मैं कुछ जंच जाऊँ, यह जिसके दिमागमें भर गया है, उसको कहीं सारतत्त्व नजर नहीं आ सकता है। परमुखापेक्षीका जीवन बेकार है। यह मनवाला तो यहांका वहां पीटा जाता है, उसका समय बेकार जाता है।

सबका संकोच छोड़ो। किसीका मेरेको परिचय नहीं है। मै स्वतंत्र अविनाशी ज्ञानमय तत्त्व हूं। यहां मेरा कौन है, मैं किसको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करूँ, मै किससे अपने बारेमें कुछ भली बात सुनूँ, किससे अच्छा कहलाऊँ? यहां ऐसा कौन है, जो मेरी आन्तरिक वेदनाको सुन सके, मेरे क्लेशोंको दूर कर सके? ऐसा तो यहां कोई भी नहीं है। मैं अपने आपमें साहस बनाऊँ और इस एकत्वविभक्त निजस्वरूपका आदर करूँ तो मैं ही मेरेका सहायक हो सकता हूं। इस आत्मामें सर्वप्रथम अपना मन लगादो। इस आत्माको अन्यत्र कहीं मत लगावो और फिर धीरेसे इस वचन और शरीरके सम्बन्धके कारण जो अहंकार होता है, अहंकारके उस विलासको भी छोड़ो।

कठिनतासे अवशिष्ट जीवनका सदुपयोग— अपने जीवनमें कौन पुरुष एक ही जीवनमें दो चार बार मरणके सम्मुख न हुआ होगा? जिस किसीसे भी पूछो कि आपकी ४०-५०-६० वर्षकी उमर है। इस उमरके दौरानमें आपको कोई ऐसा रोग हुआ होगा, जिसमें तुम मरणासन्न थे? तो प्रायः हर एक व्यक्ति अपनी दो-दो, तीन-तीन घटनाएँ बता देगा। हां,

मैं जब इतने वर्षका था तो तालावमें डूबनेसे बच गया, आगमें जलनेसे बच गया, हिन्दू-मुस्लिम दंगेमें फंस गया था अथवा इतना सख्त बीमार हुआ कि मरते बचा—ऐसी अनेक घटनाएँ सभी बता देंगे। कल्पना करो कि यदि उन घटनाओंके समय ही देहांत हो जाता तो यहां दिखनेको कुछ मिलता, जिसको देखकर हम अपनी कषायोंसे स्वरूपभ्रष्ट हुए जा रहे हैं। अपनेमें ऐसी संतवृत्ति जगे कि न क्रोध हो, न मान हो, न माया हो, न ही लोभ हो—ऐसी कोशिश करें। जिन्हें अपने जीवनमें शांत होनेकी भावना है उन्हें चाहिए कि इस कषाय भावको दूर करें।

घटनावोंका हितरूप घटन- भैया! कषायको दूर करनेके लिए जो भी यत्न करना पड़े, श्रम करना पड़े, अपमान सहना पड़े इन सबका तुम उपकार मानो। किसी पुरुषने यदि मेरा अपमान कर दिया तो क्या किया? मेरा मान मिटा दिया। अरे मान मिटा दिया तो बढ़िया किया कि घटिया? अच्छा ही तो किया, खराब कहां काम किया? किसी ने मेरा मान मिटा दिया तो उसमें मेरा बिगाड़ नहीं हुआ। सब अच्छा ही है। इतना साहस जगना चाहिए। कषाय बहुत बुरी बला है। कुछ थोड़ा पुण्यका उदय पाया है। सारे समागम मिले हैं। ये सारे समागम कषायोंके बढ़नेके कारण बन रहे हैं। ओह मैं ऐसा हूं, मैं त्यागी हू, मैं ज्ञानी हू, मैं धनी हूं और मेरे साथ अमुकने यह बरताव किया। अरे उस दूसरे पुरुष ने हमारे साथ कुछ बरताधा नहीं किया। उसने तो अपनी कषायके अनुसार अपनी चेष्टा भर की है। हमें धैर्य रखना होगा और कषायोंपर विजय करनी होगी। इस मनको आत्मज्ञानमें विलीन कर देना होगा। अपने एकत्वस्वरूपके अनुभवका रसपान बनेगा तो हित है अन्यथा संसारी प्राणियोंकी भांति ही मरण करना शेष रहेगा।

अज्ञानी और ज्ञानी द्वारा दान उपादानका विधान— अज्ञानी जीव तो बाह्यपदार्थोंमें त्याग, ग्रहण करते हैं, मैं घर छोड़ता हूं, मैं अमुक को छोड़ता हूं, मैं अमुक व्रत ग्रहण करता हूं, यों बाह्यपदार्थोंमें इसका त्याग और ग्रहण चलता है, किन्तु अन्तरात्मापुरुषके अपने अन्तरमें त्याग और ग्रहण चलता है। मेरे जो विकारभाव हैं, उनका तो त्याग चाहता है और जो सहज शक्ति है, स्वभाव है उसका ग्रहण चाहता है। यह आन्तरिक ग्रहण और त्याग चलता है। स्वीकार करना सो ग्रहण है और निषेध करना सो त्याग है। 'मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हू' ऐसा स्वीकार कर लेने का नाम अन्तरमें अपने आपका ग्रहण कहलाता है। मैं रागादिक विकार रूप नहीं हू। विकारोंका निषेध करना, सो अपनें आपमें त्याग कहा

कहलाता है। यह अन्तरात्मा इस प्रकारके अंतरंगमें त्याग और अतरङ्गमें ग्रहण किस विधिसे करे, इस जिज्ञासाके समाधानमें यह प्रसंग आया है।

ज्ञानवृत्तिमें प्रकृत क्रम— इस श्लोकमें सारभूत क्रम और वृत्ति यह कही गयी है कि हे कल्याणार्थी मुमुक्षु पुरुषो! सर्व प्रथम तो तुम वचन और शरीरसे अपने को भिन्न जानो। जैसे कि अज्ञान अवस्थामें यह जीव शरीरसे और वचनसे अभेदरूप अपनेको मानता है, अथवा शरीरमें और वचनमें निज आत्मतत्त्वका निर्णय करता है। सो सर्वप्रथम तो यह करना होगा कि शरीरसे और वचनसे, अपने आपको पृथक् करो। यह शरीर आहारवर्गणाका पिण्ड है, अचेतन है। यह मै आत्मा आकाशवत् निर्लेप ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। मै शरीर नहीं हूं। इस ही प्रकार ये वचन, भाषा वर्गणा जातिके पुद्गल स्कधोंको परिणमन है। ये अचेतन हैं, मै आत्म- तत्त्व चेतन हूं। शरीरकी अपेक्षा वचन सूक्ष्म चीज है और वचनकी अपेक्षा मन सूक्ष्म चीज है।

अदृश्यवचनसे अदृश्य आत्माका भेदीकरण— सर्वप्रथम तो अज्ञानी जनोंको शरीरसे भी न्यारा अपने आपकी समझ आनी कठिन हैं। कदा- चित् कहने सुननेसे लोकरूढिसे अथवा कुछ विचार भी बने तो शरीरसे अपनेको भिन्न माननेकी चर्चा कर लेते हैं। इन वचनोंसे भी मैं भिन्न हूं, इस प्रकार विनिश्चय होना कठिन है। शरीर तो आंखों भी दिखता है, सो शरीरका तो स्पष्ट निर्णय है कि यह है। अब अपने आपके आत्माका ठीक-ठीक परिचय पानेकी आवश्यकता है। अपने अन्तरका परिचय मिला कि इस दृश्यमान् स्थूल शरीरसे अपने आपको समझ लेना सुगम हो जायेगा। परन्तु वचन तो आखों भी नहीं दिखते और आत्मा तो अदृश्य है ही। ये दोनो अदृश्य तत्त्व हैं, इनमे भेदविज्ञान करे।

बातका व्यामोह— देखो तो भैया! जो बात बोल दी जाती है उस बातका अज्ञानीजनों को बड़ा पक्ष रहता है। मेरी बात गिर गयी, इसका अन्तरङ्गमें बड़ा क्लेश मानते हैं। शरीरकी अपेक्षा वचनोंमे इस जीवका मोह अधिक पड़ा हुआ है। बातके पीछे शरीरका कष्ट सहना तो मंजूर है पर अपनी बातको नम्र करना मंजूर नहीं है। अरे जरा सोचो तो सही कि यह संसार गर्व करने लायक नहीं है। किस चीज पर गर्व करते हो? गर्व करनेसे हानियां ही हानिया हैं, सार कुछ नही है। किस पर गर्व करते हो, मेरी शान रह गयी। क्या शान नहीं गयी? जानने वाले दूसरे लोग सब समझते हैं कि यह घमंडी है, शान बगराना चाहता है, मूर्ख है, ऐसा समझते है जगत्के लोग। कोई मुँह पर नहीं कह सकते किसी कारण से

कि अभी लड़ाई बन जायेगी, पर जानते सब हैं। किसको शान दिखाना चाहते हो ?

व्यर्थका गर्व— एक पुरुष था, तो अपनी स्त्रीसे वीरताकी बड़ी शान मारा करे। मानो महाभारतके समयकी घटना थी। सो जब एक महायुद्ध छिड़ा तो स्त्रीने कहा कि यह तो राष्ट्रकी सेवा है, आप भी युद्धमें शामिल होइये, आप तो बड़ी वीरता बताते हैं। सो जबरदस्ती शानमें आकर कुछ शामिल तो हुआ और दिन भर लड़कर युद्धमें से एक आध टांग लेकर चला आया। अब वह स्त्रीको दिखाता है लाई हुई टांग और कहता है कि देखो हम कैसे वीर हैं, हमने युद्धमें वीरता की है, देखो यह टांग लेकर आये हैं। तो स्त्री कहती है कि अरे टांग लेकर आये हो, सर लेकर क्यों नहीं आये ? तो पुरुष कहता है कि यदि सर होता तो टांग ही कैसे लाते ? कहां गर्व करना ? गर्व करने लायक यहां कुछ भी नहीं है। जो वर्तमानमें लोग दिख रहे हैं उनसे मानों तुम्हारे अधिक धन हैं मानों गांवमें अधिक प्रतिष्ठा है तो उस धनको क्या चबावोगे ? उस प्रतिष्ठाका क्या करोगे और यह लौकिक ज्ञान जो कि गर्व करनेका कारण बन गया है उस ज्ञानका भी क्या करोगे ? अन्तरमें तो अशान्ति ही है। कोई भी तत्त्व संसारमें ऐसा नहीं है जिस पर गर्व किया जाय।

निराकार बातका विकट पक्ष— अहो यहां तो बातके पीछे भी भयंकर व्यामोह है। कोई अपनी गलती है और एक बार भी अपनी गलती स्वीकार करले तो यह बडे साहसकी बात है। गलतियों पर गलतियां करता जाय और उन्हें गलती न माने, यदि समझमें भी आ जायें कि यह गलती है तो भी मुखसे न कहेंगे कि हां मुझसे यह गलती हुई है। कोई बड़ा झगड़ा हो जाय और उसमें पंच लोग यह दबाव डालें कि तुम कह दो जरा सा कि भाई माफ करो। और ऐसी ही कठिन घटना बन गयी हो कि ऐसा कहे बिना पिंड नहीं छूट सकता तो वह यों कहेगा कि भाई मुझसे दोष बन गया हो तो क्षमा करें। वह यह न कहेगा कि मुझसे दोष बन गया है तो क्षमा करो। अब भी उसके कहनेमें यह बात टपक रही है कि दोष तो मुझसे नहीं बना है पर ये लोग दबाव डालते हैं कि ऐसा कह दो, इसलिए कहने जा रहे हैं, यह बात टपक रही है।

गलत जानकर भी गलत बातका हट— एक कोई देहाती मुखिया था, पटेल समझलो, जाट समझलो। तो एक घटनामें पचोंने यों कहा कि तीस और बीस कितने होते हैं ? तो बोला कि तीस और तीस पचास होते हैं। लोग बोले कि ५० नहीं होते हैं, ६० होते हैं। हुज्जमहुज्जा हो

गया। वह कहता है कि अगर तीस और तीस मिलकर ५० न हों तो हमारी ५-६ भैंसे हैं, वे तुम ले लेना। अब सब लोग बड़े खुश हुए कि अब तो अपनी बिरादरीके सब बच्चोंको खूब दूध मिलेगा। ये बातें उसकी स्त्रीने सुन लीं और वह उदास हो गई। अब वह पुरुष घर पहुंचा, घर पहुंचकर स्त्रीसे पूछता है कि तू उदास क्यों है? वह स्त्री कहती है कि तुमने तो ऐसा कर डाला कि जिन्दगी भर घरके बच्चे भूखों मरेंगे, इसीसे हम उदास हैं। वह पुरुष बोला कि तो क्या गया? स्त्री बोली कि तुमने पंचोंसे बोल दिया है कि ३० और २० मिलकर ५० होते है, अगर ५० न होते हों तो हमारी सभी भैंसें खोल लेना। तब वह पुरुष कहता है कि तू तो पागल है। अगर हम अपने मुखसे कह दें कि तीस और तीस मिलकर ६० होते हैं' तभी तो कोई भैंसोंको छू सकेगा। तू क्यों डरती है?

बातके पक्षके त्यागमें मार्गदर्शन— यों ही यह जगत् अपनी बातके पीछे मर रहा है, बात न गिर जाये। हां, चाहे दूसरेके लाठी, डण्डे, मुक्के सहने पड़ें, पर बात हमारी न गिरे। अरे, बड़प्पन तो इस बातमें है कि कोई अपनी मामूली गलती भी हो तो उसे स्वीकार कर लेनेमे संकोच न हो, शर्म न हो, यह भी तो कषायका त्याग है। हम चाहें कि हम बड़े हो जायें, हमारा विकास बने, महत्त्व बढ़े और जिन उपायोंसे बना जाता है बड़ा, वह उपाय न किया जाये तो कैसे काम बनेगा? अरे, जान बूझकर अपनी नाक कटालो याने यह अभिमान मिटा दो, बातकी शान मिटा दो। नाक कटानेका मतलब इस नाकके कटनेसे नहीं है, जो मुंह पर लगी है। नाक मायने मान। अरे, दूसरे जीव मुझसे सन्मान पायें, मेरा अपमान हो और दूसरे खुश हो जायें। अरे, हो जायें खुश, प्रभु ही तो हैं वे दूसरे। यह तो अच्छा ही है। कितने हिम्मत और साहसकी बात है तथा अन्तरंगमें कितने बड़े गौरवकी बात है? ममत्व अन्तरमें ही तो यह महान् कार्य कैसे किया जा सकता है?

मोहियोंका वचनव्यामोह— इस जीवको शरीरकी अपेक्षा वचनसे ज्यादा व्यामोह है। झगड़ा और किस चीजका है? लाखोंका धन है, सब ठाठ बाठ आराम हैं। पर कहां सुख है? उपादान तो अयोग्य है, अज्ञान अवस्थाका है। सो कोई न कोई बात चल उठेगी और उसमें दुखी होने लगेगा। घरके लोगोंने मुझे यों कह दिया कि हमारा पद बड़ा है, हम बूढ़े हैं, हमारे बेटेकी ही तो बहू है, हमारा स्टैण्डर्ड ऊंचा है, सास इस तरहसे कहती है, और बहू कहती है कि हम तो मैट्रिक पास हैं, हम ऐसी कला जानती हैं, हमारी बड़ी इज्जत है, हम बड़ी रूपवती हैं, घरके लोग भी

मेरे आगे पूँछ दबाकर रहते हैं, मुझमें तो बड़ी कला है, वहां उसे अभिमान चल रहा है। जब दोनों जगह अभिमान है तो क्या पद-पदपर कलह न होगी। यह वचनका व्यामोह बड़ा व्यामोह है। इन वचनोंसे अपनेको न्यारा समझो।

त्रिमुण्डसे अपना पृथक्करण— मैं तो वह हूं, जो सब कुछ जानकर भी सबसे न्यारा अमिट अखण्ड बना रहता है। मैं तो वह हूं-ऐसा निश्चय करके वचनोंसे भी अपनेको न्यारा करनेका कर्तव्य है। कितनी बातें हुई? प्रथम तो शरीरसे अपने को न्यारा कहा। दूसरी बात यह है कि वचनोंसे भी अपनेको न्यारा अनुभव करो। अब तीसरी बात यह है कि वचन और कायके कारण जो लोकव्यवहार बन गया है, उस व्यवहारसे अपनेको न्यारा करो, मित्रता हो गयी और व्यवहार बना है, उन व्यवहारोंसे अपनेको न्यारा करो। सबमें मिलाजुला सबके समान अपने आपको मानो, फिर वचनव्यवहारका मोह नहीं रहे। यों ही मन वचन कायसे जो व्यवहार बन गया है, उस व्यवहारसे भी अपनेको न्यारा करो—ये तीन बातें होती हैं।

त्रिमुण्डसे छूटने पर कर्तव्य— भैया! अब क्या करें कि जो मन हैं, द्रव्यमनकी बात न मानो। द्रव्यमन तो कायमें शामिल है। जहां कायसे अपनेको न्यारा अनुभव करनेकी बात कही जाये, वहां तो यह स्वय ही सिद्ध है कि द्रव्यमनसे भी न्यारा अपनेको समझो। द्रव्यमनकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु भावमनकी, चित्विज्ञानकी बात कह रहे हैं। उस विज्ञानसे चितको, मनको आत्मासे जोड़ो। सुनते हुये बहुत अटपटासा लग रहा होगा कि मोक्षमार्गके प्रकरणको भेदविज्ञानकी प्रक्रियामें मन और आत्मा को एक जोड़ना बताया है।

अब यहां चौथा काम कहा जा रहा है कि ऐसा मानस, जो मानस आत्मज्ञानके यत्नका हो, उस मानसज्ञान और आत्माको अभेदरूप कर डालो। ऐसा निश्चय करो कि यह प्रयोग; वचन और कायसे अत्यन्त दूर होनेके प्रयोजनसे बताया गया है। वचन और कायसे अपने को न्यारा करके और वचनव्यवहार से भी अपने को पृथक् करके उस मानसज्ञानमें अपने तत्त्वको एक करें।

योगसमाधिमें अन्तिम पञ्चम कर्तव्य— इसके पश्चात् ५वीं बात यह है कि सूक्ष्मदृष्टि करके उस मानसज्ञानको भी अपने आपसे न्यारा निरखें। अनादि अनन्त अहेतुक अशरण चित्स्वभावमात्र हूं। यों सर्वविकल्पोंसे मनकी वृत्तियोंसे भी अपनेको न्यारा अनुभव करें। यों भेद-

विज्ञानकी परम्परासे आत्मतत्त्वमें आत्मस्वरूपकी झलक होती है-ऐसा कभी तो अपने सहजस्वरूपका दर्शन हो जाये, फिर तो यह परम्परा पुष्ट होनेका अवकाश पा लेती है। यों सबसे विविक्त चित्प्रतिभासमात्र अपने आपको अनुभव करें, यह संसारके संकटोंसे बचनेका उपाय है।

अन्तस्तत्त्वकी साधना करने वाला ज्ञानी पुरुष यदि बाह्यपरिस्थितिवश गृहस्थदशामें है और वहां नाना काम करने पड़ते हैं, फिर भी जैसे रोगी पुरुष कड़वी दवा पीता है और इतना ही नहीं, कड़वी दवाके पीनेका उद्यम बनाता है, लेकिन उसके अन्दरमें यह बात पड़ी हुई है कि मुझे यह दवा न पीनी पड़े तो अच्छा है। दवा न पीनी पड़े—ऐसी स्थितिके लिये वह दवा पीता है। इस कारण औषधि सेवता हुआ भी वह औषधिका सेवक नहीं है। यों ही ज्ञानी पुरुष इस जालसे छूट जाये, इस वेदनासे मुक्त हो जाये— ऐसी भावना करसे एक असक्त अवस्थामें कदाचित् कभी विषयोंमें प्रवृत्त भी होता है तो विषयोंसे छूटनेके भावको रखता हुआ रहता है, इस कारण वह अकर्ता होता है। बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, जाता हुआ भी नहीं जाता है।

क्रिया होने पर भी अकर्तृत्व— कभी देखा होगा कि जिस मांको लड़केसे उपेक्षा है, वह मां आगे चली जाती है और वह छोटे पैरों वाला नन्हासा बच्चा कभी दौड़ लगाता हुआ और रोता हुआ चला जाता है। वह बच्चा रोता हुआ चला जा रहा है। उसे कहां शरण है, किसके घर जाये? वह चलता तो रहता है, किन्तु उसके अन्तरंगकी बात देखो तो वह अन्य किसी ओर ही भावनासे चल रहा है। उसे चलना पड़ रहा है। इसी प्रकार बाह्यव्यवस्था हो और कार्य वहां करना पड़े तो ज्ञानी पुरुषका वहां मन नहीं रहता है, इसी कारण वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता। उसका किसी अन्य जगह है।

भैया, स्वका पुष्ट ज्ञान होनेके कारण उपयोग बोलनेमें भी नहीं होता तो भी प्रसंगवश उसके बोलनेकी धारा वाणीरूपसे चलती रहती है। चले किन्तु उपयोग उसमें राजी नहीं है। यों यह अन्तरात्मा पुरुष ज्ञानबलके प्रयोगसे बाह्यविषयोंसे निवृत्त होता है और निजआत्मतत्त्वमें प्रवृत्त होता है। यों इस जीवसे पहिले शरीरको भिन्न मानें, वचनोंसे भिन्न मानें। काय और वचनसे जो कुछ व्यवहार बनता है, उससे भिन्न जाने और अन्तरमें मनसे अपने आत्माको जोड़ ले। मनसे भी आत्मतत्त्वको भिन्न अनुभवें। यह है उपाय ज्ञानी पुरुषको उन्नतिमार्गमें लगानेका।

आत्मशिक्षण— यह आत्मवेदी ज्ञानी पुरुषकी बात कही जा रही

है। जो ज्ञानीसंत इस आत्मज्ञानमें पुष्ट हैं, उनको तो यह भी नहीं करना है। अन्तरङ्गका त्याग और अन्तरङ्गका ग्रहण तो स्थिरआत्मा निष्पक्ष केवल मात्र रह जाता है। यों बाह्यतत्त्वोंसे निवृत्त होकर निजआत्मतत्त्वमें लगना बताया गया है और यहां यह भी शिक्षा दी गयी है कि प्रयोजनवश यदि किन्हीं बाह्यकार्योंमें लगना पड़े तो अनासक्त होकर अपने आत्मकल्याणकी धुन रखते हुये बाह्यप्रवृत्ति कर लो, किन्तु अनुभव करो काय से, वचनसे, व्यवहारसे और मानसिक विकल्पोंसे भी न्यारे ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्वका।

> जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव वा।
> स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥

अज्ञानी और ज्ञानीका ख्याल— पूर्व श्लोकमें यह शिक्षा दी गई है अपने आपको वचन और कायसे अलग जानो और वचन तथा कायसे योजित किया गया जो व्यवहार हो उसे भी त्यागो। इतने अंशके सम्बन्ध में एक प्रश्न हो रहा है कि इस व्यवहारको क्यों छुड़ाया जा रहा है? पुत्र, मित्र, स्त्री आदिके स्नेहमें और इनके वचनालापमें तो सुख प्रतीत होता है और इस ही में तो बड़े बड़े ऊँचे जन बड़ी कलासे लगे चले आ रहे हैं। इस व्यवहारका त्याग क्यों कराया गया है, इस आशंकाके समाधानस्वरूप यह श्लोक है। आचार्य देव कह रहे हैं कि जिसने देहमें आत्माकी दृष्टि की है यह ही मैं हूं, देहको लक्ष्यमें लेकर इसमें ही सर्वस्व जिसने माना है ऐसे पुरुषको यह जगत विश्वासके योग्य जच रहा है और बहुत रमणीक जंच रहा है, किन्तु जिसने अपने आत्मामें ही आत्माकी दृष्टि बनायी है ऐसे संत पुरुषको इस जगतमें कहां तो विश्वास हो और कहां वह रमे?

छि, अपवित्र शरीरमें रमण— भैया! यह हाड़ मांस खून का पुतला जिसमें अन्दरसे लेकर ऊपर तक सभी असार और अशुचि चीजें हैं। इससे तो अच्छे पेड़ और पृथ्वी हैं। पेड़ और पृथ्वीके शरीर कुछ ठोस हैं। हीरा, जवाहरात, रत्न, सोना, चांदी आदि इष्ट चीजें सब पृथ्वी के शरीर हैं और वनस्पतिके शरीर देखो—सागौन की लकड़ी, शीशमकी लकड़ी, देवदार चीड़की लकड़ी कैसी अच्छी-अच्छी चीजें हैं। एकेन्द्रियके शरीर भी कितने सुहावने हैं, ठोस हैं, लोकमें सारभूत हैं। इस शरीरसे तो वह ही शरीर अच्छा है। इस अशुचि कायमें इस मनुष्य शरीरमें कहां सार नजर आता है? नवद्वार बहें घिनकारी। नाकसे नाक भरती है उस की संभाल रखना पड़ता है, मुखसे लार बहे, थूक आये, कफ आये और भीतर पड़ा हुआ यह जीव ऐसी ग्लानि करने वाला है कि उसे गोचर दिख

जाय, विष्ठा दिख जाय, कहीं पीप खून आदि दिख जाय तो थूकसे गला भर जाता है और इसे थूकना पड़ता है। कैसा विचित्र असारभूत यह शरीर है, किन्तु इस व्यामोही पुरुषको ऐसा अपवित्र शरीर जिस पर चाम की पतली चादर मढ़ी है, इससे सारी पोल ढकी है, ऐसी शरीर भी इस देहमें मुग्ध पुरुषको सुहावना मालूम होता है और इसो कारण विश्वासके योग्य मालूम होता है। यह तो मुझे सुख ही देगा। इससे ही मेरेको शांति होगी, ऐसा समझ रहे हैं और इस शरीरमे प्रीतिबुद्धि की जा रही है।

देहात्मबुद्धिनाके कारण यथार्थदृष्टिका लोप— इस जगतमें कोई भी स्कंध रमने योग्य नहीं है, विश्वासके योग्य नहीं है। अभी कहा गया था कि सोना चादी काठ पत्थर ये भले हैं, ये भी भले नहीं हैं। पदार्थ हैं, स्कंध हैं, यो परिणमते हैं, पर उनमें अपवित्रता ऐसी नहीं पायी जाती है जैसी कि हम आपके शरीरमें है। फिर भी देखो- मनुष्य भवमे कितने शुभकर्मका उदय है कि जो सस्थान बने हैं सो ठीक बने हैं। बैल घोड़ोंकी नाकमें नथुवा एकदम खुले दरबार जैसे होते हैं। यदि इस मनुष्यके नाक का नथुवा बैल घोड़ा जैसा खुला हुआ होता तो इसकी पोल जरा जल्दी मालूम हो जाती। नाक चामकी नाकसे ढकी है और सुवा जैसी नाक है। सारी पोल ढकी हुई है। इस शरीरमें कहां है सुहावनापन ? सर्वत्र अशुचि है, लेकिन जिन्हें देहमे आत्मबुद्धि हो गयी है उन्हें कलाकी वजहसे, कुछ शरीरके रूपोकी वजहसे और मुख्य तो अपने आपमे होने वाली विषय वेदनाकी वजहसे इस मनुष्यका यह शरीर पवित्र, विश्वास्य और रम्य मालूम पड़ता है।

भोग छूटनेकी तीन पद्धतियां— एक भंगिन विष्ठासे भरी हुई टोकनी लिये जा रही थी। एक सज्जन ने बहुत बढ़िया साफ एक तौलिया दिया जो बड़ा सुहावना था। इसलिए दिया था कि तू इससे इस टोकनीको ढक ले, क्योंकि इससे बहुतसे लोगोंको तकलीफ होती है। उस भंगिनने उसे तौलियेसे टोकनीको ढक लिया। अब चली जा रही है। रास्तेमें तीन मित्र मिले, बातें करते हुए चले जा रहे थे। उन्होंने देखा कि यह कोई सुहावनी वस्तु है क्योंकि यह कीमती कपडेसे ढकी हुई है। इसमे कोई बढ़िया चीज होगी। वे तीनों उसके पीछे लग गये। वह भंगिन कहती है भाई क्यों लगे हो पीछे ? अरे हम जानना चाहते हैं, देखना चाहते हैं कि इस टोकने में क्या रक्खा है ? अरे इस टोकनेमें विष्ठा पड़ा हुआ है। नहीं-नहीं तुम झूठ बोलती हो, इसमें कोई बढिया चीज है। कहती है नहीं हम ठीक कहती हैं। यह गंदी चीज है, लौट जावो। इतनी बात सुनकर

एक मित्र तो लौट गया। अभी दो मित्र साथ लगे हैं। उन्हें उसके कहने मात्रसे विश्वास नहीं हुआ। अरे भाई क्यों लगे हो पीछे? वे बोले कि हम देखेंगे कि इसके अन्दर क्या है? अरे इसमें मैला पड़ा है। नहीं तुम बहकाती हो, दिखावो इसमें क्या है? तो लुटिया उठाकर दिखाया तो एक और देरा फरके लौट गया। हां ठीक चीज नहीं है। मगर एक अभी पीछे ही लगा रहा। अरे क्यों पीछे लगे हो? तुम इसे दिखावो—इसमें कोई अच्छी चीज है। दिखा तो दिया, अरे यों नहीं, हम इसकी परीक्षा करेंगे, अरे तो लो भाई देख लो। कपड़ा उठाया, सूंघ सांघकर छूकर देखा। जब मन भर गया तो कहा हां ठीक है, है यह गंदी चीज। तब वह लौटा। तो यों समझो कि इन विषयभोगोंसे सबको जुदा होना पड़ेगा। इन तीन पद्धतियों में से कौनसी पद्धति चाहते हो? सो चुन लो।

निर्वाचनमें बुद्धिमानी की आवश्यकता— तीन तरहके लोग हैं, उनमें से अपना नाम जिनमें लिखाना है, लिखावो। एक तो वह पुरुष हैं जो केवल सुनकर उपदेशमात्रसे ही उन भोगोंमें फंसे बिना वहांसे निवृत्त हो जाते हैं। और एक पुरुष ऐसे होते हैं कि कुछ भोगोंमें लगते हैं, थोड़ा लगे कुछ देखा—निवृत्त हो गए। एक ऐसे हैं कि भोगोंमें लगे-लगे ही मर जायें तो मर जायें पर ४-५ मिनट भी त्याग नहीं कर सकते। छूटना तो सब है ही, अब अपनी मर्जी है, किसी भांति छोड़ो। कुछ विवेक और ज्ञानका सहयोग लेना चाहिए। यों दुर्गति में छूटा तो क्या छूटा? श्रद्धान् और ज्ञान सहित समस्त परवस्तुवों से भिन्न आत्मामें लगें और यथार्थ बात समझें, आत्माको छुऐ तो इसमें बुद्धिमानी है। भाई लोग कहने लगते हैं ना कि यह बात आत्माको टच करती है। अरे यह आत्मा आत्माको टच कभी कर जाय ऐसी स्थिति तो बनालो। संसारका यह उपद्रव, संसारका यह मायाजाल यह तो यों ही है, इसके विश्वासमें तो हानि ही हानि है।

जगतकी अविश्वास्यता व अरम्यता— भैया! जगत्में कोई भी स्कंध ऐसा नहीं है जो विश्वास करनेके योग्य हो और रमणीय हो, लेकिन पर्यायबुद्धि देहात्मदृष्टि मिथ्यादृष्टि जीव को यह जगत विश्वासके योग्य लग रहा है। धन कमाने की रोज-रोज तृष्णा बनी बन रही है, इतना हो गया अब इतना और होना चाहिए। यों ही खर्च मत करो और जोड़ो। अरे ज्ञानमात्र अमूर्त तो यह है और लाखों करोड़ोंका बोझ संचित करता है जिसमें से कुछ भी इसको प्राप्त नहीं हो सकता। पर्यायबुद्धिकी धुन है, विवश है यह जीव क्योंकि अज्ञानी है, उन्मत्त है। जैसे किसी दुःखी पागल पुरुषको देखकर जो कि बहुत अच्छे घरानेका पुरुष हो और सबको उपदेश

करने वाला, उपकार करने वाला, आचरणसे रहने वाला पुरुष हो और पागल हो जाय तो लोग उस पर कितनी दया करते हैं ? हाय यह कैसा हो गया, कैसा सुहावना था, कैसा परोपकारी था और क्या हो गया, कैसे यह ठीक हो ? दया आती है। ऐसे ही ज्ञानी साधुसंतोंको इन लखपति करोड़पति वैभववान् राजा महाराजावोंकी प्रवृत्तिको देखकर तुम्हें इन पर दया आती है, ओह यह व्यर्थका लपेटा है, इस परस्कंधमे से इसके आत्मा का कुछ नहीं लगता है, अत्यन्त पृथक् है, भिन्न वस्तु है। फिर भी यह कितना उसमे लग रहा है, फंसा जा रहा है, उसे दया आती है।

सुगम चिकित्सा न किये जानेपर ज्ञानियोंकी करुणा— देखो भैया ! इस रोगके मिटानेकी, इस पागलपनके दूर होनेकी रंच ही तो तरकीब है और इसीके अन्दर औषधि पड़ी हुई है। थोड़ा इस उपयोगकी गतिको मोड़ दो, उपयोग जो निजसे पराङ्मुख हो रहा है उसकी गतिको बदल देना मात्र ही तो इन समस्त सकटोंसे मुक्त होनेकी औषधि है। अरे भैया ! यह तो इतना विवश है कि इतनी ही बात याद नहीं हो पाती है। दया आती है ज्ञानीसंत पुरुषोको और जब यह दया अपना चरम रूप रख लेती है तो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता है। यह सारा जगत् कैसा व्यर्थ ही अज्ञानमे रहकर दुःखी हो रहा है ? इस जगतका अज्ञान मिटे अपने आप के अन्तःस्वरूपका दर्शन हो, सर्वसकटोंसे दूर हो जायें यह ऐसी अपार करुणा जिस सम्यग्दृष्टि जीवके जग रही हो उसके वहा तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता है।

बहिरात्माकी विशेषतायें— इस अज्ञानी जीवके अनेक वाचक शब्द हैं और उन शब्दोंके माध्यमसे ही इस अज्ञानी जीवकी भीतरी बातको परख सकते हो। इसे कहते हैं देहात्मदृष्टि। जिसकी देहमे यह मैं आत्मा हूं—ऐसी दृष्टि है, उसे कहते हैं देहात्मदृष्टि। मिथ्यादृष्टिका भी अर्थ यह है कि जिसे लोग जल्दीमें यो बोल जाते हैं कि जिनकी मिथ्या अर्थात् विपरीतदृष्टि हो, धारणा हो, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्या शब्दका अर्थ है संयोगीभाव। मिथ् धातु सयोग अर्थमे आती है। मिथुसे ही मिथुन बना। जिससे मैथुन बना उसीसे मिथ्या बना अर्थात् एक दूसरेका स्वामी है, एक दूसरेका कर्ता है, एक दूसरेका अधिकारी है। इस प्रकार भिन्न पदार्थोंमे संयोगपनेकी दृष्टि जिसमें हो, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। चूंकि भिन्न पदार्थोंमे सयोग माननेकी बात वस्तुस्वरूपसे विपरीत है, इस कारण मिथ्या शब्दका अर्थ विपरीत उल्टा यह प्रचलित हो गया, किन्तु मिथ्या शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ यह नहीं है। संयोगको ही सर्वस्व माननेकी, सही मानने

की जिसकी दृष्टि हो, उसके मिथ्या कहते हैं।

राग और मोहमें अन्तर— भैया, राग और मोहमें बड़ा अन्तर है। रागमें तो प्रीतिका परिणाम है। मुहा गया, सो रागभाव है, किन्तु मोहमें अज्ञानका परिणाम है। पुत्रका पालन कर रहे हो तो ठीक है, प्रीति है, प्रेम है, राग है, किन्तु भीतरमें यदि यह अज्ञान बसा हुआ है कि यह तो मेरा है, तो मोह हो गया। इस ही अज्ञान अन्धेरेका नाम मोह है। मोह बहुत ही भयंकर कीच है। जिस मोहमें फंसा हुआ प्राणी इस संसारमें जन्ममरणके चक्र काटता है। मोह गन्दी चीज है।

अशुचित्व— लोग कहते हैं कि नाली गन्दी है, विष्ठा गन्दा है। क्यों नाली गन्दी है? उसमें कीड़ेका कलेवर है, मांस है। गन्दा क्या है? मांस, खून, पीप आदि मलिन हुए। यह तो बताओ कि खून, पीप, मांस जिस उपादानसे बना है, वह उपादान इस नयाव साहयर्य ग्रहण करनेके पहिले भी गन्दा था क्या? नहीं था। यह मोही जीव मरण करके जब अन्य स्थानमें पहुंचता है और किसी पुद्गल स्कंधको ग्रहण करता है तथा नाना शरीर-वर्गणायें इसके चारों ओरसे आया करती हैं, वे सब वर्गणाएँ इस मोही जीवके जन्म लेनेके पहिले भी थीं क्या? थीं।

असत्का तो कुछ बनना नहीं है। वह किस रूप थी? क्या हाड़, मांस, पीप नहीं थे? रूप, रस, गन्ध, स्पर्श थे, किन्तु सही ढंगमें थे। जब मोही जीवने उन्हें ग्रहण किया तो वे गन्दे बन गये। तो जिसके सम्बन्धसे वे सभी वर्गणाएँ गन्दी बन जायें तो मूलमें गन्दा कौन हुआ? यह मोही जीव हुआ। जिसके छू लेनेसे, जिसके स्पर्शमात्रसे वे सब शरीरवर्गणाएँ गन्दी बन गयीं।

मोहकी ही सर्वाधिक अशुचिता— इस मोही जीवमें भी जीव गन्दा नहीं है, उसे तो यों समझिये कि जैसे "मैं वह हूं जो हैं भगवान्, जो मैं हूं वह हैं भगवान्।" जीवका स्वरूप गन्दा नहीं है, वह तो पवित्र चेतनापुञ्ज है। उसमें जो विकार पड़ा है मोहका, अज्ञानका वह गन्दा है। दुनियामें सबसे अधिक गन्दा, अत्यन्त निन्दनीय, जिसकी शक्ल भी न देखी जानी चाहिए—ऐसा गन्दा है कुछ, तो वह है मोह। मोहसे गन्दा दुनियामें और कुछ नहीं है, मोहियोंको यह विदित नहीं होता। वह तो मोहको ही सर्वस्व जानता है, किन्तु जो यथार्थज्ञानी है, सावधान है, सहजस्वरूपका जिसने परिचय पाया है, वह जानता है कि मोह कितना गन्दा हुआ करता है। इस अज्ञानी जीवका नाम बहिरात्मा है। अपनेसे बाहरके पदार्थोंमें आपा जो माने, उसे बहिरात्मा कहते हैं।

स्वप्नसम विश्वास— अहो, एक जीवकी दूसरे जीवके साथ कितनी फुटकर मन्त्रणा होती है कि पुत्र पिताको, पिता पुत्रको, पति स्त्रीको, स्त्री पतिको, मां बेटेको, बेटा मांको कितने विश्वासपूर्वक निरखता है? मेरा तो सब कुछ यह है और इससे ही सुख है, इससे ही बड़प्पन है। यों इस देहमें आत्माकी दृष्टि रखने वाला जीव बहिरात्मा कहलाता है। इसके अनेक नाम हैं। वे सब नाम इस अज्ञानी जीवकी खासियतको बताने वाले हैं। इस मुग्ध प्राणीको यह सारा जगत् विश्वसनीय हो गया है और रमणीक हो गया है।

प्राकृतिकताका रहस्य— किसी जंगलमें पहुंच जाएँ। कोई भलासा दृश्य देखनेको मिल जाये तो बड़ा मन बहलता है। क्या कर रहे हो भाई? तफरी कर रहे हैं, दृश्योंके देखनेका मौज ले रहे हैं। कैसा है यह दृश्य? प्राकृतिक दृश्य है, कुदरतका दृश्य है। अरे, किसीने कुदरतको देखा है कि कैसी उसकी शकल होती है, कैसे हाथ पैर होते हैं, कहांसे वह कुदरत आती है, कहां जाती है? वह कुदरत क्या है कि जिसका यह रूप-रंग बड़ा सुहावना है? अरे, वह प्रकृति और कुछ नहीं है, वह है १४८ प्रकारके कर्मों की प्रकृतियोंका विपाक। इस प्रकृतिको प्रकृति बोला करते हैं। कितने सुन्दर पेड़ हैं, कैसे हरे पीले पत्ते हैं, कैसे रंग-बिरंगे फूल हैं, इन फूलोंमें कैसा मकरन्दका डोरा लगा है और इन सब प्रकृतियोंके उदयसे जीवोंका काय बना है—ये सब प्रकृतियां ही तो हैं।

कर्मोंका ढेर है, कर्मोंका भार है—ये सब मिथ्यादृष्टिको रमणीक लगते हैं और विश्वासके योग्य जँचते हैं, किन्तु ज्ञानीको ये सर्वथा न विश्वास्य जँचते हैं और न रमणीक जँचते हैं।

व्यर्थका व्यवहार— जिस ज्ञानी योगी संतपुरुषने अपने आत्मामें ही ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्वका अवलोकन किया है और इस अवलोकनके प्रसादमें स्वाधीन सहजआनन्दका अनुभव किया है, उस पुरुषको इस लोक में किस पदार्थ पर विश्वास जमें। यह सारा जगत् इस ज्ञानीके विश्वासके योग्य नहीं रहा है। इस दिखती हुई दुनियामें किस बातका विश्वास करें? न यह सदा रहेगा, न मेरे निकट रहेगा, न इसके किसी परिणमनसे मेरेमें कुछ परिणमन होता है। यह दृश्यमान सब अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं, फिर ऐसा कौनसा कारण है, जिससे यह जगत् कुछ विश्वासके लायक बने। वस्तुतः कोई भी विश्वासके योग्य नहीं है, फिर भी यहां विश्वासकी बात चल रही है। पिताका पुत्रके साथ और पुत्रका पिताके साथ, स्त्रीका पति के साथ और पतिका स्त्रीके साथ, गुरुका शिष्यके साथ कैसा विश्वास चल

रहा है ?

विश्वासका आधार सदाचार— यह सब विश्वास सदाचारकी नींव पर निर्भर है। सदाचार हटे तो विश्वास भी रच किसीका किसी पर लोक-व्यवहार में भी नहीं रह सकता। कौन विश्वासके योग्य है ? गुरु जब तक भला है, तब तक शिष्य उस पर विश्वास रखता है। शिष्य जब तक भला है, तब तक गुरु शिष्य पर विश्वास रखता है। विश्वास रखते हुए भी तो ऐसी घटना आ जाती है कि जो विपदाओंको बिछाकर मुसीबत कर देती हैं।

श्रीरामका सीता पर क्या विश्वास न था ? पूर्ण विश्वास था कि शुद्ध है, सती है फिर भी क्या घटना बन गयी ? श्री रामने लोकमर्यादा रखनेके लिए सीताजीको जंगलमें भेज दिया। विश्वास होने पर भी घटना बनने पर विच्छेद कर दिया करते हैं लोग। फिर जब विश्वास ही न हो एक दूसरेका तो वहां गाड़ी रच भी नहीं चला करती है।

ज्ञानी व अज्ञानीका विश्वास्य स्थान— इस ज्ञानी संतको तो परमार्थकी दशामें किसी भी परपदार्थमें अणुमात्र भी विश्वास नहीं है। काहे का विश्वास करे ? ये अत्यन्त भिन्न हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी तो न्यारे हैं। प्रत्येक सत्के सदृश धर्म एक है। उसमें क्या कोई व्यञ्जना निभती है ? इस आत्मवेदी पुरुषको तो मात्र निजसहजस्वरूपमें ही विश्वास है। ज्ञानीको अन्यत्र इस जगत्में कहीं विश्वास नहीं होता और न कहीं यह रम सकता है। जबकि इन देहात्मदृष्टि जनोंको, जिन्होंने शरीरको ही आत्मसर्वस्व मान लिया है—ऐसे देहात्मदृष्टि जनोंको इस जगत्में सारा विश्वास रम्य बना हुआ है।

एक दृष्टान्त द्वारा जगत्की रम्यताका पर्दाफाश— दो मित्र थे, एक साथ स्वाध्याय करते थे। ज्ञानचर्चामें दोनों सम्मिलित रहा करते थे। उनमें आपसमें निर्णय हुआ कि हम दोनोंमें से जो पहिले मरे, वह मरकर देव हो तो वह दूसरेको सम्बोधनेके लिए समझाने आये। कोई देव समझाने आये और यह विदित हो कि यह तो अमुक था, मरकर देव बना है, उसका अतिशय भी विदित हो तो धर्ममें कितनी श्रद्धा बढ़ जाती है ? दोनोंमें यह निश्चय हुआ। अब उनमेंसे एक गुजर गया और वह मरकर देव हुआ। अब वह मन्दिरमें समझानेके लिये आया। मित्रमनुष्य स्वाध्याय कर रहा था। देव बोला कि भाई सारा जगत् असार है, तुम्हारा यहां कुछ भी नहीं है, आत्महितमें लगो। तो वह कहता है कि क्या कह रहे हो तुम ? हमारी स्त्री तो बड़ी आज्ञा मानती है, पुत्र हमारा बड़ा विनय-

शील है, मां तो मुझे अपना दिल समझती है, पिताकी आंखोंका तारा हूं, तुम क्या समझाते हो ?

देव बोला कि अच्छा, एक काम कर सकोगे क्या ? हां। देखो कल के दिन १२ बजे दोपहरको बीमार होकर पलंग पर पड़ जाना। अच्छा, यह तो कर लेंगे। बीमारीके लिए सबसे बहाना क्या है ? पेटका दर्द और सिरका दर्द। कोई इसी फिराकमें बैठा होगा तो बड़ा खुश हो रहा होगा कि लो बहानेकी आज अच्छी तरकीब बता दी। डाक्टर हैरान हो जाये, कहां है सिरदर्द ? वह चिल्लाता रहे कि अरे ! अरे ! मरे जा रहे हैं तो डाक्टर क्या करेगा ?

वह सिर दर्द और पेट दर्दकी बात बनाकर १२ बजे पलंग पर लोट-पोट होने लगा। उसी समय वह देव वैद्यका रूप रखकर झोली लिए हुए फेरी लगाने आया। मेरे पास बड़ी अचूक दवा है, कैसा ही रोग हो मेरी दवासे तुरन्त ही ठीक होगा। घर वालोंने उस वैद्यको बुला लिया और कहा कि वैद्य महाराज मेरा यह बच्चा बहुत बीमार है, इसे ठीक कर दीजिए। हां ठीक कर देंगे। उसने झूठमूठकी दवा निकालो और कहा कि एक गिलास स्वच्छ जल ले आवो। ले आये, उसमें जरा सी वही भभूत सी डाल दी और वैसे ही ओठोंसे मंत्र पढ़कर घर वालोंसे कहा कि लो इस दवाको पियो कोई। लोग सोचते हैं कि बीमार तो पड़ा है यह और दवा पिलाना चाहता है घरके कुटुम्बियोंको। सबने कहा महाराज यह क्या कर रहे हो, बीमारको ही दवा पिलाओ ना। तो वैद्य जी बोले कि यह ऐसी दवा नहीं है। इसमें तंत्र मंत्र और औषधिके सर्व रस मौजूद हैं। इसका अनुपान यह है कि इस दवाको दूसरा ही पीवेगा। जो पीवेगा वह तो मर जायेगा और जो बीमार है वह बच जायेगा। मां जी पी लो दवा। अब मां जी के मनमें बिल्लियां लोटने लगीं। मैं ही मर जाऊँगी तो किसका सुख देखूँगी और यह एक मर जायेगा तो अभी तीन बच्चोंका तो सुख देखने को मिलेगा। बापसे दवा पीनेको कहा तो उसने भी यही सोचा। स्त्रीसे कहा तो वह यह सोचती है कि मेरे दो तीन लड़के हैं। यदि मैं ही मर गयी तो फिर क्या सुख देखूँगी और पति गुजर गया तो लड़के तो हैं, इन लड़कोंसे तो सब आराम है। उसने भी दवा पीनेको मना किया। तो वैद्य जी कहते हैं कि क्या मैं इस दवाको पी लूँ ? तो कुटुम्बी लोग बड़े खुश हुए। वाह वाह वैद्य जी, आप बड़े दयालु हो, आप तो साधु पुरुष हो, हां हां आप पी लीजियेगा। वैद्य ने कहा अच्छा तुम सब जावो। हम इसे ठीक कर लेंगे। इस दवाका एकांतमें ही अनुपान होगा। सब चले गए, अब

कानमें कहता है कि देख लो तुम कहते थे कि हमारे घरके लोग बड़े आज्ञाकारी हैं, बड़े विनयवान हैं कुटुम्बके लोग। देखो यहां कोई तुम्हारे लिए कुछ हुआ? तुम किस पर गर्व करते थे?

वस्तुकी अनर्थान्तरता— भैया! यह तो वस्तुका स्वरूप ही है। प्रत्येक वस्तु अपने लिए अपनेमें अपने द्वारा परिणमेगी, यह तो वस्तुके स्वरूपमें ही नाम पड़ी हुई है। इन ज्ञानी संतको इस लोकमें किस पदार्थमें विश्वास जमे? किस पदार्थमें यह रमण करे? यहां कोई भी पदार्थ विश्रामके योग्य नहीं है, रमणके योग्य नहीं है। जब कभी जीवनमें कोई बड़ा संकट आता है, जब मरणहार हो जाते हैं तब मनमें यह निश्चय हो जाता है कि अबकी बार अगर बच जाऊँ तो फिर जीवन भर मैं धर्म करूँगा, और ठीक हो गए तो थोड़े ही दिन बाद फिर वही रफ्तार हो जाती है जो पहिले से चल रही थी।

कष्टमें धर्मकी सुध— कोई लोभी आदमी नारियल तोड़ने के लिए एक नारियलके पेड़ पर चढ़ गया। वहां फल तोड़ने लगा। फल तो तोड़ लिया पर नीचे उतरने लगा तो बड़ा भय लगा। सोचा कि अब तो उतर नहीं सकेंगे, मरण ही निश्चित है। सो संकल्प करता है कि हे भगवान् हम उतर जायें तो १०० बामन जिमायेंगे। जरा सी हिम्मत किया तो थोड़ा सा नीचे उतर आया। अब यह सोचता है कि १०० तो नहीं पर ५० जरूर जिमायेंगे। फिर कुछ और नीचे उतरा हिम्मत करके तो कहता है कि ५० तो नहीं पर १० जरूर जिमायेंगे। जब बिल्कुल नीचे उतर गया तो सोचा कि वाह उतरे तो हम हैं बामनोंको हम क्यों जिमायें? तो अपने जीवनमें ही देखलो जब बहुत वेदनामें हो जाते हैं तब ख्याल होता है कि ऐसा दुर्लभ नरजीवन मोह व्यर्थ ही गंवा दिया, क्या हाथ लगा, ५०–६० वर्षकी उम्र बिता डाली—अब भी सूनेके सूने हैं।

अविश्वाससंस्कार-- भैया! परप्रसंगमें पड़े हुए इतने दिन तो हो गये कुछ भी हाथ लगा हो तो बताओ। आत्माके गुणोंके विकासमें वृद्धि हुई हो अथवा शान्ति या आनन्दकी वृद्धि हुई हो तो बताओ। अरे वृद्धि तो क्या अशान्ति ही बढ़ी जा रही है और गुणोंकी अवनति ही होती चली जा रही है। कभी-कभी यह प्रभुभजन, आत्मचिंतन, सत्संग ये कुछ सहारा दे देते हैं समझनेके लिए, सावधानीके लिए, किन्तु क्या किया जाय--ऐसे चिरकालके संस्कार हैं हम लोगोंके कि क्या कहा जाय? अगर बुरा न लगे तो एक कहावतमें कहते हैं कि कुत्ते की पूँछ बांस की पुगेड़ीमें रखी, पर जब निकली तो पूँछ टेढ़ी की टेढ़ी निकली सीधी नहीं हो सकी। यों ही हम

आप यत्न करते हैं, बहुत-बहुत प्रभुभजन करते हैं, सत्संग करते हैं, धर्मचर्चा करते हैं, लेकिन जैसी योग्यता है वैसी बात बाहरमें चला करती है। कहां तक छिपायें अपना दोष, कहां तक बनावें अपनी पोजीशन, कहां तक अपना महत्त्व दिखावें? आखिर ये जैसे हैं तैसे ही रह जाते हैं। ज्ञानी संत पुरुषोंको इस जगत्में किसी भी परपदार्थमें अणुमात्र भी विश्वास नहीं है कि यह मेरे हितका साधक है। अपने दोष निरखना और अपने दोषोंको दूर करनेका यत्न करना, यह काम आंखें मींच कर करलो। बड़ा वेढब रंग है इस जगत का।

दोषग्रस्तता— भैया! अपने दोष देखें तो दोष बहुत दिखेंगे। मोह राग, पक्ष, मात्सर्य, अविद्या और पाच पांपोंकी वृत्तियां क्या-क्या बातें दिखायी जायें, इन सब दोषोंमें ग्रस्त यह आत्मा अपने स्वरूपमें निश्चल निस्तरंग, नीरंग अवस्थित नहीं रह सकता है और बाहरी पदार्थोंमें दौड़ दौड़कर भागता है। दौड़ता नहीं है फिर भी बड़ी दौड़ करता है। कहां जाता है ज्ञान, अपने प्रदेशोंसे बाहर किसी बाह्य पदार्थमें यह ज्ञानगुण जा ही नहीं सकता है। वहीं का वहीं प्रदेशोंमें ही गुणगुणी शाश्वत अवस्थित है, फिर भी दौड़ इतनी लम्बी है कि इतनी दौड़के मारे जगतमें हैरान हो गया।

विषयविडम्बना— पुराने जमानेमे कोई पुरुष या स्त्री जरा-जरासे झगड़े मे कुएमें गिरनेका डर बताया करते थे। हम कुएमे गिर जायेंगे। जब उसका हाथ पकड़ कर मना करो तब तो वह कहेगी कि हम तो गिरेंगे और जब कहें कि अच्छा चलो, हम तुम्हारे गिरने में मदद करेंगे, हम रस्सा लिये चलते हैं, तुम अपनी कमरमें बांधकर लटक जाना, हम तुम्हारे गिरनेमें मदद दे रहे हैं तो वह हाथ जोड़कर कह देगी ना, ना, हमें नहीं गिरना है। इसी तरह हम आप विषयोंके गर्तमे थोड़ा-थोड़ा गिर रहे हैं व गिरने में हठकर रहे हैं, पर लोग थोड़ा-थोड़ा कुछ ध्यान रोकते हैं कि न गिरो विषयोंमें और कोई कहे कि गिर तो लो विषयोंमें खूब मन भर लो, जितना चाहो उनका भोग लो, तो वह मना कर देगा कुछ ही समय बाद कि ना, ना, अब न चाहिए विषयभोग, इनमें तो बड़ी विडम्बना है, बड़ी विपदा है।

मेरे लिये परकी हितकारिताका अभाव — कितनी ही विडम्बनावों को अनादिकालसे यह जीव सहता हुआ आज मनुष्य हुआ है। पुण्यका उदय है, पर यहांके माया मय लोगमें अपना पोजीशन रखना चाहते हैं। अरे सोचो तो पहिलेकी स्थितियां, पेड़ ठूंठ भी तो तुम्हीं थे, कीड़ा मकौड़ा

भी तो तुम्ही थे। अब क्या है? कुछ चेतो, कुछ सावधान होओ, नहीं तो तुम्हारी दुर्गति होगी। इस चार दिनकी चांदनीको पाकर इतरानेमें क्या पूरा पड़ेगा? यह जगत् विश्वासके योग्य नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं तो बड़ा विश्वासी हूं और समस्त लोग विश्वासके काबिल नहीं हैं, यह अर्थ नहीं है, किन्तु मेरे हितके लिए मेरे सिवाय प्रत्येक पदार्थ चेतन या अचेतन कोई भी समर्थ नही है।

यथार्थज्ञान विना व्यर्थकी हाय— जब तक इसको अपने ज्ञानानन्दघन अन्तस्तत्त्वका बोध न था, तब तक इसको देहमें आत्मबुद्धि रही आयी थी और परिजनके समूहको इस प्रकार देखता था कि मेरा प्राण, मेरा आधार, मेरा सर्वस्व यह ही है और कल्पनामे आ जाये कि यह नहीं रहा तो बड़ी श्वास लेता है, बड़ा खेद करता है, किन्तु यह नहीं समझता कि अनादि कालसे ही सर्वजीव अकेले अकेले ही हैं। सुखमें अकेले, दुःखमें अकेले, कर्मबन्धमें अकेले, मोक्षमे अकेले, सर्वत्र अकेले। दो द्रव्य मिलकर एक परिणमन नहीं करते हैं, एक द्रव्य दो द्रव्योंका परिणमन नहीं करता। सर्वपदार्थ अपनेमें परिपूर्ण एवं स्वतन्त्र हैं, इसका भान नहीं किया और ऐसी संयोगदृष्टि रही कि यह मेरा है, यह उनका है, इसी दुर्बुद्धिसे इस संसारसमुद्रमें गोते खाता आ रहा है।

निजचेष्टाका विपरीत आक्रमण— जरा यथार्थ बात और निमित्तदृष्टि दोनोको साथ लगाकर देखो तो जिसको माना कि यह मेरा सर्वस्व है, यह मेरा परिजन है और ये मेरे कुछ नहीं हैं, इनसे मुझे कुछ लाभ नहीं है तो जिन्हें माना कि ये मेरे हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं, उन्हींके पीछे सारा तन, सारा मन, सारे वचन सब न्यौछावर किए जा रहे हैं। उन नातीपोता, बाल-बच्चोंमें ही सारा व्यय किया जाता है। कितना गहरा पक्ष है इस व्यवहारी जीवका। पर करे क्या? जैसे चोर चोरोंका ही मुहल्ला हो तो वे सब भाई-भाई हैं। अब उन्हें चोर कौन कहेगा? इसी प्रकार मोही मोहियोंका यह संसार है। इसमें कौन एक दूसरेको मूढ कह सकता है? मोहकी कला जिससे जितनी ऊँची बन जाए, वह यहां चतुर माना जाता है। यह है मूढ पुरुषोंकी कथा।

ज्ञानी और अज्ञानियोंकी परस्पर विपरीत धारणा— जिन्हें आत्मा का परिज्ञान हुआ है, अपने इस ज्ञानस्वरूपमें ही यह मैं आत्मा हूं—ऐसा अनुभव जगा है उनकी दशा इन व्यामोहीपुरुषोंसे विपरीत होती है, वे ज्ञानकी वृत्ति लिये हुए होते हैं। अज्ञानियोंकी धारणा उनसे विपरीत होती है। तभी तो सारे अज्ञानी मिलकर ज्ञानीको पागल देखते हैं। कोई अपने

बीच १४-१५ वर्षका बालक वैराग्य भरी बातें करे और ज्ञानकी ओर रुचि जगाये तो लोग सोचते हैं कि इसके कुछ बीमारी हो गयी है, कुछ दिमागमें खराबी आ गई है। सो डाक्टरको भी दिखाते हैं कि दिमाग ठीक हो जाये।

यह ज्ञानी जानता है कि भोगोंमें लिप्त होना, भोगोंके प्रति ख्याल बनाना चतुराई नहीं है, यह मूढ़ोंका काम है। अज्ञानीजन ज्ञानीको पागल निहारते हैं, किन्तु ज्ञानीपुरुष इन सब व्यामोहियोंको पागल निरखता है। दोनोंमें परस्पर विरुद्ध वृत्ति होती है। अज्ञानीजन इस जगत्में रमे तो रमे, किन्तु ज्ञानीकी यह धारणा रहती है कि मेरे आत्माको तो मेरे अन्तस्तत्त्वका आश्रय ही शरण है और सब धोखा है।

आत्मज्ञानात् परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद् वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

ज्ञानीके प्रधान कर्तव्य और परिस्थितिकृत्यका वर्णन— आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य कार्य बुद्धिमें देर तक मत रखिये। किसी प्रयोजनवश कुछ करना पड़े तो वचन और कायसे अतत्पर होकर, तल्लीन न होकर उसे किया जाए। पूर्व श्लोकमें यह बताया गया था कि जिन प्राणियोंको शरीरमें आत्माका भ्रम है, उनको तो यह सारा जगत् विश्वासके योग्य लगता है और रमणीक लगता है, किन्तु जिनकी निज आत्मामें ही यह मैं आत्मा हूं—ऐसी दृष्टि रहती है उन संतपुरुषोंको कौनसा पदार्थ विश्वासके योग्य है और कौनसा पदार्थ रमण करनेके योग्य है—ऐसी बात जाननेके पश्चात् यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है, तो फिर ज्ञानी पुरुष भी किसी कारणसे घरमें रहता है, लोकव्यवहार करता है और विषयोंको भोगता है। इसकी क्या वजह है ? उसके समाधानमें इस श्लोकको समझिये।

मात्र आत्मज्ञानकी धारणीयता— समाधान भी हो जाए, ऐसा शिक्षाके रूपमें कहा जा रहा है कि हे भव्य प्राणियों ! आत्मज्ञान ही एक निःशंक सदा धारणा करनेके योग्य है। अपनी बुद्धिमें यह मैं आत्मा सर्वपदार्थोंसे न्यारा केवल ज्ञानानन्द परमार्थ सत् हूं—ऐसी प्रतीति बनाओ। देखो जगत्में सारा दुःख व्यर्थका है। इस आत्माका दूसरा कोई कुछ लगता है क्या ? इस अमूर्त ज्ञानानन्दघन आत्माके साथ किसी परका कुछ संबंध है क्या ? कुछ भी तो नहीं।

खूब ध्यानपूर्वक विचार लीजिए, जिसे आपने समझा हो कि यह मेरा लड़का है, मेरी स्त्री है, मेरा अमुक है, वे सर्व तुमसे जुदे हैं। जगत्का प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टयमें रहा करता है, आपके चतुष्टयसे सर्वथा जुदा

है, फिर उनमें क्या बुद्धि धारण करना, उनमें उपयोग न फंसावो। लेकिन हो कहां रहा है ऐसा ? उपयोग अपने निजस्थानको छोड़कर मानो खूँटा तोड़कर बाहर भगा जा रहा है। जैसे बछड़ा खूँटा तोड़कर बाहर भागता है, यों ही उपयोग अपने स्थानको छोड़कर बाहर भगा जा रहा है। सार कुछ नहीं है।

फुटवालकी तरह मोहीकी दशा— भैया! फुटवालकी तरह भागे कहां जा रहे हो ? जिसके पास जावोगे, उसीके पाससे ठोकर लगेगी। फिर लौटकर आना पड़ेगा। लौटकर कहां आयेगा ? अपने निज विश्राम का तो परिचय नहीं है, लौटकर किसी और जगह जाएगा तो वहां भी ऐसी ठोकर लगेगी कि फिर और जगह भागना पड़ेगा। यह फुटवाल एक स्थान पर बैठी रहनेके लिये नहीं बनी है। कोई सुहावनी गेंद खरीद ले बाजार से तो क्या वह उसे देखता ही रहेगा ? अरे वह तो फुटबाल है, फुट की बाल है, पैरकी ठोकर लगे, ऐसा गेंद है।

इसी प्रकार यह ससारी प्राणी किसी जगह स्थित रहनेके लिये नहीं है। यह इस फुटवालकी तरह यहासे ठोकर खाया और दूसरी जगह पर पहुचा, वहांसे ठोकर खाया तो तीसरी जगह पहुंचा, यों ही इधर उधर डोलता रहता है, यो ही अज्ञानीका उपयोग फुटवालकी तरह ही यत्र तत्र धक्के खाता फिरता है। कहां बुद्धि लगाते हो? कोई भी पदार्थ बुद्धि लगाने लायक नहीं है, लेकिन ऐसा हो कहां रहा है ?

ज्ञानलक्ष्मीकी उपासना— अहो ! आजकल ज्ञानका स्थान धनवैभव ने ले लिया। प्राचीनकालमे ज्ञानका ही नाम लक्ष्मी था, विद्याका नाम लक्ष्मी था, क्योंकि लक्ष्मी शब्दका अर्थ लक्षण, लक्ष्म, लक्ष्मी है। तीनोंका एक ही मतलब है। तो हमारा जो लक्षण है, वही हमारी लक्ष्मी है। हमारा लक्षण है ज्ञान। ज्ञान ही लक्ष्मी थी और यह ज्ञानलक्ष्मी सर्वप्रकार उपादेय है। तन जाये तो जाये, पर ज्ञानलक्ष्मी प्रसन्न रहे तो कुछ नहीं बिगड़ता है। सब कुछ जाये तो जाए, पर ज्ञानलक्ष्मी प्रसन्न रहे तो कोई भी तो आपदा नहीं है। जहां ज्ञानको स्पष्ट जान रहा हो कि मैं सबसे ही न्यारा ज्ञानमात्र हूं—ऐसे इस जाननहार ज्ञानी संत पर क्या आपदा हो सकती है ? नहीं हो सकती।

विडम्बनामें शानकी होड़— आपदा वहां ही हुआ करती है, जहा या तो जीवनसे प्रेम है या धनसे प्रेम है। जिसको जिन्दा बने रहनेसे प्रीति है, उसको कर्म सताया करते हैं; जिसको धनसे प्रीति है, उसको भी कर्म सताया करते हैं। अरे किन जीवोंमें धनी बननेके लिए दौड़ लगाये जा

रहे हो ? कुछ मौलिक प्रयोजनकी बात निर्णयमें तो रक्खो। किसको बताने चलें कि मैं बड़ा हूं। किनमें महत्त्व करनेके लिए धनी बनने की होड़ लगायी जाती है ? ये अपवित्र शरीर वाले जन खुद भी विनाशीक हैं। यहां मलिन परिणाम वाले जगत्के मनुष्योंको यह समझाने के लिए कि मैं धनी हूं, होड़ लगायी जा रही है क्या ? अरे एक प्रभुको प्रसन्न करनेका ध्यान होता तो कुछ हाथ भी रहता। अब मायामयी अपवित्र गंदे पदार्थ वाले मोही मानवों को प्रसन्न करनेका आशय बनाया तो अपने आपको बलहीन कर लिया। आत्मबल नहीं रहा। किसे बड़ा देखना चाहते हो ? यह धन आता है तो आने दो, किन्तु चित्तमें वाञ्छा न रक्खो कि मुझे तो इतना होना ही चाहिए।

आत्मनिर्णयपर सुखकी निर्भरता— देखिए भैया ! सुखी करने कोई दूसरा न आयेगा। खुदके ही विचारोंसे सुख हो सकता है और खुदके ही विचारोंसे दुःख हो सकता है। अपने आपमें अपने आपका सत्य स्वरूप देखो। किसी को प्रसन्न करनेका मनमें आशय न बनाओ, किन्तु अपने आपको प्रसन्न करनेका, निर्मल बनानेका, निश्चित रहनेका आशय बनावो और ऐसा ही यत्न करनेका प्रोग्राम बनाओ, आत्मज्ञानसे बढ़कर इस जगत्में अन्य कुछ है ही नहीं। धन कन कंचन राजसुख ये सब सुलभ हैं, किन्तु एक यथार्थ ज्ञान होना, आत्माके परमार्थस्वरूपका परिचय पाना यह अत्यन्त कठिन चीज है। कठिन क्यों है इस आत्मज्ञानकी सिद्धि ? धन वैभव हाथी घोड़ा इज्जत ये सब किसी काम नहीं आते, पर अपने आपका यथार्थस्वरूप ज्ञात हो जाय तो यह अतुल निधि है। हुआ सो हुआ। सारा क्लेश दूर हो जाता है। इस ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ भी कार्योंमें बुद्धि न लगायें।

निवृत्तिके भावसे प्रवृत्ति— भैया ! करना पड़ रहा है कुछ किसी प्रयोजनवश, कर लिया, पर उसे करने योग्य मत समझो। ज्ञानी जीवकी क्रियायें करना एक न करने की स्थितिकी तैयारी वाली है। जैसे कोई वावदूक, अधिक बोलने वाला पीछे लग जाय, सामने आ जाय, भिड़ जाय तो कुछ प्रिय वचन या उसकी हां में हां बोल देते हैं, इसलिए कि यह टले। तो यों ही अनुराग जिन पर होता है और उन्हें करना पड़ता है तो करता है यह ज्ञानी इसलिए कि जल्दी इससे निपटलें, छुट्टी तो मिले। वचन और शरीरसे अतत्पर होकर ही यह ज्ञानी, कुछ करना पड़ता है तो करता है। आत्मज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कोई बात अपनी बुद्धिमें नहीं लानी चाहिए। आते तो हैं परपदार्थ अपनी बुद्धिमें, किन्तु ज्ञानी पुरुष अपनी बुद्धिमें उन्हें

अधिक देर नहीं रखता। उनके देखने सुनने लगने में अपनी बुद्धि नहीं फंसाया करते हैं। प्रयोजनवश तो जिसमें कुछ अपना या परका उपकार है अथवा कुछ आत्महितका विचार है तो इस प्रयोजनके वश वचन और कायसे कुछ करना भी पड़े तो उसे करता है।

आशयके अनुसार— आत्मकल्याणार्थी पुरुषका कर्तव्य है कि अपने उपयोगको इधर उधर न भ्रमाये और आत्मचिंतनमें ही उपयोगको लगाये। जैसे किसी व्यापारी की धुन है आय होना, वह किसी बड़े पुरुषके पास तगाजेको जाता है तो वह सीधा तुरन्त तकादा तो नहीं कर सकता किन्तु कुछ भी बात कर रहा हो, पर आशय यह पड़ा हुआ है कि अपने दाम लेने की बात छेड़ दी जाय। वह यहां वहांकी गप्पें करता है और यह भी उन गप्पोंमें थोड़ा साथ देता है, पर उसकी धुन है अपनी ही चर्चाको छेड़ना।

प्रयोजनवश ज्ञानीकी अतत्परतासे प्रवृत्ति— यह ज्ञानी संत अतत्पर होकर कार्य करता है। जैसे मुनीम अथवा खजाने के संभालने वाले खजाञ्ची बैंकर्स सब उस धनको सुरक्षित रखते हैं, हिसाब रखते हैं, लेकिन चित्तमें यह बात पूर्णतया बसी हुई है कि इसमें मेरी एक पाई भी कुछ नहीं है। यों ही ज्ञानी पुरुष मकानमें रहता है, पैसा कमाता है, उनकी संभाल रखता है, रक्षा करता है इतने पर भी उसके चित्तमें यह दृढ़तासे समाया हुआ है कि मेरे आत्माका तो परमाणु मात्र भी कुछ नहीं है। यह ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञायकस्वरूप महान् दुर्गमें विराजमान् है, इसे रंचभी भय नहीं है, किसी शत्रुका इसमें प्रवेश नहीं है। किसी भी परका इस चेतन गृहमें प्रवेश नहीं हो सकता। फिर डर किस बातका है? जब वस्तुस्वरूपके अभ्याससे चिग जाते हैं तो वहां डर है।

ज्ञानी की अतत्परप्रवृत्तिपर एक दृष्टान्त— भैया! देखा होगा विवाहके दिनोंमें। पड़ौसनी गीत गाने आया करती हैं और गीत गानेके एवजमें उन्हें छटांकभर बतासे मिल जाते हैं। छटांकभर बतासोंके लिए वे इतना तेज गीत गाती कि जैसे मानों उन्हींका दूल्हा हो, लड़का हो, मेरा दूल्हा, मेरा सरदार, राम लखन जैसी जोड़ी, कितने जोरसे बोलती हैं और मां कामके मारे पसीनेसे लथपथ है, यहां यह किया, वहां वह किया, चैन नहीं मिलती है, लेकिन यह तो बतावो कि यदि दूल्हा घोड़ेसे गिर पड़े और टांग टूट जाय तो क्या वे गाने वाली पड़ौसिनियां कुछ खेद मानेंगी या वह मां खेद मानेगी? पड़ौसिनियां तो गाती हैं, वे तो गाने के लिए गाती हैं। कहीं दूल्हामें उनका राग नहीं है। यों ही पड़ौसि-

नियोंकी तरह ज्ञानी संत वचनव्यवहार करते हैं दूसरोंसे, किन्तु साथ ही यह भी जानते हैं कि किससे बोलें, यहां कोई मेरा प्रभु नहीं है, कोई मेरा शरण मेरा रक्षक हो यहा, ऐसा कोई नहीं है। किससे बोलें, फिर भी बोल रहे हैं। अतत्पर होकर बोल रहे हैं। धुन है आत्महितकी। अन्तर में वृत्ति चल रही है ज्ञायकस्वरूपमें लीन होने की, किन्तु बात की जा रही है दूसरोसे अनेक प्रसंगोंकी।

'ज्ञानी की निजमें' अनन्यमनस्कता— पनहारिनियां कुएसे पानी लाती हैं और सिर पर दो तीन गगरियां रखकर चलती हैं। रास्ता चलती जा रहीं हैं, गप्पें भी लगाती जा रही हैं फलानी जिजीयों, फलाने जीजायों, ऐसी बातें भी करती जाती हैं, किन्तु उनके मूल ध्यानमें गगरी को सभाल कर चलना रहता है। इस ही प्रकार यह ज्ञानी संत पुरुष भी बहुत बातें यहा वहा की करता है और अनेक प्रसंगोमें भी पड़ जाता है पर ध्यान उसका इस ओर है कि द्वेषकी ज्वालामें जल न पायें और रागमें अंधे न बन जायें। इन दो बातोंकी सावधानी ज्ञानी पुरुषके निरन्तर बनी रहती है। आत्मज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी कार्य बुद्धिमे चलता रहे यह ज्ञानीके नहीं है।

कृतार्थताके साधनोंपर रुचिवश विभिन्न उत्तर-- भैया ! क्या बात बन जाये तो कृतार्थ हो जावे ? इसके उत्तरमे कोई तो यह कहेगा कि हमारी दुकान बन जाय फिर हमें कुछ आपत्ति नहीं है, यह मकान बन जाय लड़कीका विवाह हो जाय, लड़की सयानी बैठी है इसका भर विवाह हो जाय फिर तो हम स्वतंत्र है। ज्ञानी संतसे पूछो—क्या काम हो जाय तो तुम कृतार्थ होगे ? तो उसकी अन्तर्ध्वनि निकलती है कि मै अपने इस सहज ज्ञानस्वरूपको यथार्थ जान लूँ, और ऐसी ही जानते रहनेकी स्थिति बनी रहे, तब हम कृतार्थ हैं। परपदार्थ आपके करने से क्या बनते हैं। कितने ही विकल्प किए जायें, जब समय होता है, जब भाग्य होता है तब उस कार्यकी सिद्धि होती है।

शान अथवा चाकरी— सभी जीवोंके भाग्य लगा है, कोई किसीको पालता नही है, रक्षा करता नहीं है। एक दिनके बच्चेका भी भाग्य है और कहो पिताके भाग्यसे कई गुणा अच्छा भाग्य है। यह बालक तो पूर्व जन्म की सारी साधनासे ताजा पुण्य लाया है, किन्तु यह पिता ५०-६० वर्षकी उमर हो गयी ना, तो सारे मायाचार लोभ तृष्णा करके पापोंके कारण, कामवासनाके कारण सारा पुण्य खो चुका है। तो इस लड़के का भाग्य उस पिताके भाग्यसे बढ़कर है। इसीसे उस बच्चेकी पिताको चिता करनी

पड़ रही है। जो पुण्यहीन है, वह अपनी चिन्ता तो नहीं कर रहा है। उस पुण्यवान् बालकको हंसता हुआ पिता देखना चाहता है। पिता उसे गोद में लेकर आहार कराता है। वह लड़का इतना भाग्यवान् है, तभी तो उसकी इतनी चाकरी की जा रही है। चाकरी तो वही करेगा, जो बहुत पुण्यहीन होगा।

किसको प्रसन्न करना— इस जगत्में किस जीवको प्रसन्न रखनेके लिये इतनी चेष्टा की जा रही है? अरे खुदको प्रसन्न कर लीजिए, निर्मल बना लीजिये, तो सर्वसिद्धि आपके हस्तगत हैं। बाहर बाहरके उपयोगके भ्रमानेमें तो सार कुछ न आयेगा। अपनी बुद्धिमें बहुत देर तक किसी पदार्थको मत रखिये, क्योंकि यहां कुछ भी परपदार्थ विश्वासके योग्य नहीं है। कोई नाम ले लो कि कौनसा पदार्थ परका ऐसा है कि हमारा हित कर दे, शान्ति दे दे। है कोई शान्ति देने वाला पदार्थ? खूब सोच लो कि पुद्गल तो कई प्रसंगोंमें जले भुने, चेतनोंमें कुछ बने, वह तो अचेतन थूल-मथूल पड़ा हुआ है। कई घटनाएं ऐसी होती हैं, जहां धोखा खाये, दूसरोंके आगे बेवकूफ बना पड़े, हित कुछ नहीं मिला, किन्तु अपना अहित ही परके वातावरण में, परके सम्बन्ध में पाया है। यहां जीवका कौनसा पदार्थ हितकारी है? किसको प्रसन्न करना चाहते हो? कोई रक्षक हो तो प्रसन्न करो।

जगत्में अशरणता— भैया! यहां तो ऐसी हालत है कि जैसे किसी जंगलमें ऐसी जगह हो, जहां आगे तो नदी हो, अगल बगल पहाड़ोंमें आग लगी हो और वहां बीचमें कोई हिरण खड़ा हो और पीछेसे १०० शिकारी धनुष बन्दूक ताने, उस हिरणके बच्चेको मारनेके लिए दौड़ रहे हों, तो अब यह अन्दाज कीजिए कि उस हिरणके बच्चेकी क्या स्थिति है? उससे भी भयंकर स्थिति हम आप लोगोंकी है। यहां कौनसा शरण है? किसको प्रसन्न रखना चाहते हो? अपने उपयोगको अपनेमें डुबाओ, अपने निज-ज्ञानस्वरूपको देखो और सदा प्रसन्न हो जावो। यही कार्य करने योग्य है। इस आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्यमें इस बुद्धिको देर तक मत लगाइए।

प्रायोजनिक ज्ञानकी आवश्यकता— आत्माका ज्ञान अन्य आत्मावोंसे व समस्त अचेतनोंसे भिन्न अपनेको समझने पर होता है, इससे समस्त पदार्थोंका प्रायोजनिक ज्ञान होना आवश्यक है। जैसा वस्तुका स्वरूप है, उस स्वरूप सहित पदार्थोंके परिज्ञान होनेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह समस्त विश्व अनन्त पदार्थोंका समूह है, इसमें अनन्त को जीव हैं, उससे

अनन्तानन्त गुणे पुद्गल हैं। एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश-द्रव्य है और असंख्यात काल द्रव्य है। ये प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपसे हैं, अपने द्रव्यक्षेत्र कालभावरूप हैं, परके द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप नहीं हैं। यदि इन समस्त पदार्थोंमे उनके असाधारण स्वरूप पर और सभी प्रकारके गुणों पर दृष्टि जाए तो साधारण गुणों पर ही दृष्टि है। समस्त पदार्थोंका स्वरूप एक समान है।

अस्तित्व गुणकी व्यापकता— कोई भी पदार्थ हो, आखिर है तो, अस्तित्व होता ही है। अस्तित्व न हो तो फिर किसकी चर्चा है? इससे सर्वपदार्थोंमें अस्तित्व गुण है, सभी पदार्थ सत् हैं। ऐसा भी कुछ है, जो न हो? किसीका नाम लो, ऐसी चीज बताओ जो नहीं है। आप कहेंगे कि कमरेमे पुस्तक नहीं है। कमरेमें पुस्तक नहीं है, यह तो ठीक है, पर पुस्तक वस्तु कोई चीज तो है, ऐसी चीजका नाम बतावो, जो न हो। कोई सा भी नाम लो। आप कहेंगे कि गधेके सींग नहीं होते। गधेके सींग नहीं हैं। अरे भले ही गधेके सींग नहीं होते, पर गधा कोई होता है, तब तो नाम गधा है। सींग कुछ होती है, तब तो सींग नाम है। जो है ही नहीं, ऐसी चीजका नाम लो। ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं होता। है तो है ही है। अस्तित्वगुण समस्त पदार्थोंमे है।

वस्तुत्वगुणकी व्यापकता— सर्वपदार्थ हैं। हैं सो हैं, इतनेसे वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता। हम हैं हम हम ही हैं, हम अन्य कुछ नहीं हैं। इतनी बात यदि न हो तो हम हैं नहीं रह सकते। घड़ीको उठाकर कहो कि यह है, तो यह घड़ी है। अलावा अन्य जितने दुनियामे पदार्थ हैं, वे तो यह नहीं है। यदि कहें कि यह घड़ी भी है, पुस्तक भी है, चौकी भी है तो यह कुछ नहीं रहा फिर। घड़ी तो घड़ी है, अन्य कुछ नहीं है। मनुष्य तो मनुष्य है, अन्य कुछ नहीं है। प्रत्येक पदार्थमें अपने स्वरूपका तो सत्त्व है और स्वातिरिक्त अन्य किसी का भी सत्त्व नहीं है। इतनी बात यदि है तो है, रह सकता है।

एक देहाती आहाना बोलते हैं कि छूमाबाई सासरे जावोगी? हां। मायके जावोगी? हां। कोई लड़की होगी छूमाबाई। वह नहीं जानती है कि सासरा क्या है व मायका क्या है? ऐसा अविवेक कोई वस्तुस्वरूपमें करे। यह क्या है? घड़ी है। और भी कुछ यह है कि नहीं? हां सब रूप है। यह वस्तुका अविवेक है। किसी भी पदार्थको सर्वात्मक मान लेना उस पदार्थके अस्तित्व को ही खो देना है। तो सब पदार्थ हैं और अपने स्वरूप से हैं, परस्वरूपसे नहीं हैं। पदार्थमें इस समय दो बातें समझमे आयी

ना कि हर एक पदार्थ है और अपने स्वरूपसे है और परके स्वरूपसे नहीं है।

द्रव्यत्वगुणकी व्यापकता— कोई अस्तित्व व वस्तुत्व तक ही रह जाए तो काम नहीं चलता। पदार्थ है, ठीक है, पर वह "है" तभी रह सकता है, जब निरन्तर उसका परिणमन होता रहे। उसकी दशाएँ अदल-बदल होती रहें तो वह में "है" रह सकता है। अनादिसे अनन्तकाल तक एक ही रूप रहे—ऐसा कोई पदार्थ नहीं होता। यद्यपि स्वभावदृष्टिसे सब एक रूप है, किन्तु सर्वथा एकरूप रहे, उसमें कुछ परिणमन ही न हो—ऐसा होता नहीं है। कोई मनुष्य ऐसा है, जो न बालक, न जवान, न बूढ़ा न बच्चा बना हो। क्या ऐसा कोई है ? ले आवो उसे, जो सदा एक रूप रहता हो।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अविनाभाविता— भैया ! ध्रौव्यका सम्बन्ध है उत्पाद, व्ययसे और उत्पाद व व्ययका सबन्ध है ध्रौव्यसे। बनना, बिगड़ना, बना रहना—ये तीन बातें प्रत्येक पदार्थमें हैं। कोई पदार्थ बनता व बिगड़ता तो रहे और बना रहे—ऐसा कोई हो तो बतलावो। कोई पदार्थ बना तो रहे, पर बनता बिगड़ना रंच न हो, हो कोई पदार्थ ऐसा तो यह बताओ। जो बनता बिगड़ता है, वही बना रह सकता है। जो बना रह सकता है, वह नियमसे प्रति समय बनता बिगड़ता है। प्रत्येक पदार्थ है, वह अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नहीं है, किन्तु यदि परिणमनशील न हो तो उसके ये दोनों गुण भी टिक नहीं सकते। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमते रहते हैं। यह जो वस्तुस्वरूपकी चर्चा छिड़ गई है, इसमें हित की बात निकलेगी और मौलिक हित बनेगा। हम पदार्थोंका कैसे मोह छोड़ें, इसकी शिक्षा वस्तुस्वरूपके ज्ञानमें मिलेगी।

अगुरुलघुत्व गुणकी व्यापकता— तीन बातें हुईं हैं अब तक। पदार्थ हैं, अपने स्वरूपसे हैं, परके स्वरूपसे नहीं हैं, निरन्तर परिणमते रहते हैं, किन्तु पदार्थ स्वच्छन्द होकर न परिणमेगा कि इसको तो परिणमते रहनेका हुक्म मिला है। सो वह चाहे घड़ीरूप परिणमें, चाहे चौकी रूप परिणमें, चाहे पुद्गलरूप परिणमें, चाहे जीवरूप परिणमें। यदि ऐसी बात हो, तब तो यह पदार्थ स्वयं ही मिट जायेगा। इसी कारणसे तो चौथी बात प्रत्येक पदार्थमें यह है कि वह अपने ही रूपमें परिणमन करेगा।

अपना परवस्तु पर अनधिकार— यह तत्त्वज्ञान हमें यह शिक्षा देता है कि अन्तरकी आखें खोलो, प्रत्येक पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न है,

अणुमात्र भी परके परिणमनसे मेरे में कुछ सुधार बिगाड़ नहीं होता है। आपका इस शरीर पर भी वश नहीं है जिस शरीरमे बस रहे हो। आप इसे न दुर्बल होने दें, जब अपनेसे मिले हुए इस शरीर पर भी हमारा वश नहीं चलता तो फिर पुत्र स्त्री आदि अन्य लोगों पर अपना अधिकार जमाये कि मैं इनका यो करने वाला हूं—यह कितनी अज्ञानताकी बात है?

प्रदेशत्व व प्रमेयत्व गुणकी व्यापकता— यों वस्तुमे चार गुण बताये गये हैं, किन्तु साथ ही यह जानना कि वस्तु कुछ न कुछ अपनी जगहको अपने प्रदेशको घेरे हुए रहती है। न हो कुछ आकार, न हो कुछ प्रदेश तो वह पदार्थ ही क्या है? साथ ही प्रत्येक पदार्थ ज्ञानमे आया करता है। यों ६ साधारण गुणों करके तन्मय समस्त पदार्थ हैं।

वस्तुस्वरूपके परिज्ञानसे भेदज्ञानका उदय— इन साधारण गुणोंकी ही दृष्टि रखकर यह सिद्धान्त विदित होता है कि समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूपसे अद्वैत हैं। साधारण गुणोंको असाधारण गुणका सहयोग लेनेकी बात इनके स्वरूपमे गर्भित है। ऐसे विविक्त निज एकत्वमय सर्व पदार्थोंका स्वरूप जान लेने वाला ज्ञानी सन अब किस परतत्वको अपनी बुद्धिमें धारण करे? क्या है कोई ऐसा पदार्थ संसारमे जिससे कि हमारा हित हो जावे, जिससे हमे सुखकी प्राप्ति हो जावे। इस दिखने वाले मायामय संसारमें कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है। इस कारण ज्ञानी जीव अपनी बुद्धिमें किसी भी परपदार्थको धारण नहीं करता। कदाचित् करे भी धारण ज्ञानी अपने-अपने उपयोगमे तो चिरकाल तक नहीं करता।

पानीमें मीन प्यासी— ओह व्यर्थके ही दुःख मोल ले रक्खे हैं। निजका स्वरूप तो है अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द वाला किन्तु अपने स्वरूपको भूलकर बाहरमें दृष्टि देकर भिखारीपन लादा करते हैं अपने आप पर। मोही बनकर ये जीव आशा करते हैं इन्द्रियोंके विषयों की और इन्द्रिय विषयोंके साधनोंकी। जैसे लोग कहते हैं कि "पानीमे मीन प्यासी। मोहि सुनि-सुनि आवे हासी॥" पानीमे रहने वाली मछली यह कहे कि मैं प्यासी हूं तो ऐसी बात सुनकर हँसी आयेगी या नहीं। यों ही आनन्द का स्वरूप होता हुआ भी यह जीव यह अनुभव करे कि मुझे तो बड़ा दुःख है तो यह हँसी की बात नहीं है क्या? पर हँसे कौन? जहां सभी का एकसा वोट है मिथ्यात्वका, मोहका, अब वहा हसने वाला कौन है?

वस्तुस्वरूपके पारखीका चिन्तन— वस्तुके स्वरूपका पारखी ज्ञानी संत अपने उपयोगमें किसी परपदार्थको चिरकाल तक धारण नहीं करता है। वह समझता है कि मै ज्ञानमात्र अमूर्त चेतनतत्त्व हूं। इसे कोई

समझता भी नहीं है कि मैं क्या हूं। कोई समझ भी जाय तो मेरे लिए उससे कोई व्यवहार नहीं निभता। यह मैं परमार्थ कारणब्रह्म व्यवहारसे परे हूं, इसका कोई परिचय करे तो क्या, न करे तो क्या? किसी भी प्रकारके परके परिणमनसे मेरे सुख दु:खमें अन्तर नहीं आया करता है। सुख जैसे विचार बनावो अभी सुखी हो जावोगे, दु:ख जैसे विचार बनावो अभी दु:खी हो जावोगे। उपादान अशुद्ध है ना। अधिक धनका अभिलाषी और धनवानों पर दृष्टि देकर वर्तमानमें पाये हुए धनका भी सुख नहीं ले पाता है, क्यों कि उपयोग तो तृष्णामय बना हुआ है।

संतोषार्थ एक सिंहावलोकन— आज देशमें कितने मनुष्य ऐसे होंगे जो भूखों मर रहे हैं, प्राण दे रहे हैं। किसी को आधा पेट भोजन भी नसीब नहीं होता है। कुछ दृष्टि डालकर, कुछ जगह घूम फिर कर देख तो लो। लाखों और करोड़ों पुरुषोंकी तो ऐसी हालत है और ये तृष्णाके गुन्तारोंमें अपने को चिंतित बनाये जा रहे हैं। शांति पावो, अपने से हीन उन करोड़ों पर भी दृष्टि दो, जो पाया है उसका सदुपयोग करो। अपनी धर्मसाधनामें सावधान रहो। सीधे-सीधे चलोगे तो वहां काम बनेगा भी, टेढ़े उल्टा चलोगे तो वहां हानि ही हानि है। सर्व परपदार्थोंसे भिन्न अपने को ज्ञानस्वरूप जानकर ज्ञानीसंत अपनी बुद्धिमें किसी परपदार्थको चिरकाल तक धारण नहीं करते हैं। हां कभी कोई प्रयोजन हो तो ज्ञानी प्रयोजनवश वचन और कायसे अतत्पर होकर, लीन न होकर कुछ करता है, किन्तु देखिये कर्मबंध होता है तो अन्तरके संस्कारके अनुसार होता है। सो कर्तृत्वका महाबन्ध इस ज्ञानी जीवके भी नहीं है।

आत्मज्ञानके संप्रधारणका आग्रह— भैया! जिनके अन्तरका आशय विशुद्ध है और परिस्थितिवश वचन और कायसे करना पड़ता है तो उसे करना नहीं कहा जाता है। कर्ता वह है जो अन्तरमें ऐसा आशय रखता हुआ करे। ज्ञानी पुरुष वचन और कायसे अतत्पर होता हुआ प्रयोजनवश कुछ करता है जहा तक बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए मुख्यतया यह शिक्षा दी गई है कि बहिरात्मापनको तो छोड़ना चाहिए और परमात्मस्वरूपको ग्रहण करना चाहिए। इन दोनों ही कार्योंका उपाय है अन्तरात्मा बनना चाहिए। उस अन्तरात्माका क्या स्वरूप है, उसकी कैसी प्रवृत्ति है, उसका कैसा ज्ञान है? इन समस्त बातों पर प्रकाश डालकर अनेक शिक्षा देकर अंतमें यह बात दर्शायी गयी है कि कल्याणार्थी पुरुषों! तुम्हें अपनी बुद्धिमें एक आत्मज्ञान बनाये रहना चाहिए।

हितरूप लक्ष्य और लक्ष्यके अनुसार यत्नमे सफलता— भैया! आशय, लक्ष्य एक ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्वके निहारने का ही हो। लक्ष्य बिना कोई नाव भी चलाये तो थोड़ा इस ओर चलाया, थोड़ा दूसरी ओर चलाया, फायदा क्या हुआ? यों ही लक्ष्य बिना धर्मकी धुनमें कुछ इस ओरका काम किया, कुछ उस ओरका काम किया, इस प्रकारकी धर्मकी धुन बनाई तो उससे लाभ क्या? पहिले लक्ष्य को स्थिर करो। हम मनुष्य जीवनमें जी रहे हैं तो क्यों? इसलिए कि हम अपने आत्मस्वरूप को परखकर ज्ञानानन्दनिधान अंतस्तत्त्वका निर्णय करके मैं इस अंतस्तत्त्वमें ही स्थिर होऊं, यह काम अब तक न किया गया था, आहार निद्रा आदि के काम तो अनन्त बार किये। अब इस अपूर्व कार्यको करके अपना जन्म सफल करना है। मोह ममतासे दूर हटकर शुद्ध ज्ञानानन्दका अनुभव करना है। ऐसा निर्णय होना चाहिए और ऐसा ही यत्न होना चाहिए। ऐसे ही पुरुषार्थमे हम आपका कल्याण है।

॥ समाधितन्त्र प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ॥

जैन साहित्य प्रेस, सदर मेरठमें मुद्रित

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम॥

—:०:—